निगम-चिन्तन
अखण्डानन्द सरस्वती

निगम-चिन्तन

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

प्रकाशक : स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती सेवा-संस्थान
सीके. 36/20 दुण्ढिराज, ज्ञानवापी, वाराणसी-221001
फोन : 0542-2401749

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल'
28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 3205722,
3205721

●

प्रथम संस्करण : संन्यास जयन्ती 1978
माघ शुक्ला एकादशी सं० 2034 वि०

द्वितीय संस्करण :
आनन्द महोत्सव 2010
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती जन्मशताब्दी महोत्सव
5 दिसम्बर से 11 दिसम्बर 2010

●

वितरणार्थ

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम, वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

प्रकाशकीय

'निगम-चिन्तन' में संकलित सभी सूक्त और स्वस्त्ययन 'चिन्तामणि' के अंकोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। यह उसके पाठकोंकी प्रेरणाका परिणाम था कि हमने उसे पुस्तकाकार रूप दे 1978 में प्रकाशित किया।

बादमें 1984के आनन्द बोधके अंकोंमें भी प्रकाशित किया गया।

वेदार्थ-चिन्तनके लिए यह उपयोगी होगा। ऐसा हमारा विश्वास है।

कु. उषा, शान्ता, ज्योति-ठाकुरदास तुलजाराम महतानी, मुम्बईके हम विशेष आभारी हैं, जिन्होंने इसके प्रकाशनमें आर्थिक सहयोग दिया है।

—विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

निगम-चिन्तन

सूक्त

स्वस्त्ययन

सूक्त

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

शान्ति-सूक्त

अथर्ववेद-का० 19, अनु० 1, सूक्त 9

ॐ शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः॥ 1॥

'द्युलोक शान्त हो। पृथिवी शान्त हो। यह दृश्यमान विस्तीर्ण अन्तरिक्ष शान्त हो। यह समुद्रका जल शान्त हो और ये ओषधियाँ हमारे लिए शान्त हों।'

यह सूक्त शान्ति-प्रतिपादक है। इसके प्रयोगसे आयुष्य, शान्ति और स्वस्तिकी वृद्धि होती है।

इस सूक्तका देवता शान्ति है और प्रतिपाद्य भी शान्ति है। शान्ति माने हमारा कोई अनिष्ट न हो और सुख-समृद्धिके साधन बनें।

द्युलोककी शान्तिका अर्थ है—द्युलोकमें जो दोष प्रकट होते हैं वह अपने दोषोंको पचा ले और स्वमूलक उपद्रवको शान्त करके हम लोगोंके लिए सुखदायी हो।

'पृथिवी शान्त हो' का अर्थ है—पृथिवीके भीतर स्वभावसे और निमित्तवश भी अनेक दोष पैदा होते रहते हैं वे शान्त हो जायँ।

पृथिवी और द्युलोकके बीचमें अत्यन्त विस्तीर्ण और उदीर्ण अन्तरिक्षलोक है। अन्तरिक्षका अर्थ है—अन्तराक्षान्तम्=मध्यलोक। यह द्युलोकके देवता और पृथिवीके मर्त्य—दोनोंको जोड़नेकी एक कड़ी है। इसमें पशु-पक्षीसे लेकर ग्रह-नक्षत्र तक बिहार करते हैं। इसमें जब कोई उपद्रव होता है तब देवता और मनुष्य दोनों ही दुःखी हो जाते हैं। वातावरणको दूषित करनेवाली क्रियाएँ, वस्तुओंका प्रयोग, आणविक

विस्फोट आदिके कारण अन्तरिक्ष उपद्रुत हो जाता है। वह हमारे लिए शान्त रहे। उसकी शान्ति ही हमारे सुखका कारण है।

जलसे भरे हुए को उदन्वान् कहते हैं। यह समुद्रकी ही एक संज्ञा है। इसका जल शान्त रहे। जलके भीतरसे या बाहरसे कोई ऐसा कार्य न किया जाय जिससे प्राणिमात्रका अनिष्ट हो। प्राणी जलके भीतर भी रहते हैं और बाहर भी। दूषित जलसे संपृक्त वायु जीवोंको हानि पहुँचाती है।

ओषधि—जो अपनी परिपाक-दशामें हमारे लिए कल्याणकारी होती है। उनका जीवन अपने परिपाक द्वारा हमारे जीवनको परिपुष्ट करता है और अनिष्टको दूर करता है। वे चाहे पृथिवीमें लगी रहें और चाहे उनका विधिपूर्वक उपयोग कर लिया जाय। वे जीवन-विरोधी दोषोंको नष्ट करती हैं और गुणोंका आधान करती हैं। इसलिए वे शान्त रहें अर्थात् वे किसी भी बाह्य-आभ्यन्तर निमित्तसे उपद्रवकारिणी न बनें।

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः॥ 2॥

'हमारे पूर्वरूप शान्त हों। हमारे कृताकृत् शान्त हों। हमारे भूत-भव्य शान्त हों। हमारा सब कुछ शान्त ही हो।'

जब कुछ भी कार्य होता है तो उसका कोई-न-कोई कारणावस्थापन्न पूर्वरूप होता है, जैसे किसी रोगका निदान=आदि कारण होता है। यदि वही शान्त रहे तो रोगकी उत्पत्ति न हो। हमारे जीवनमें जो कुछ हो रहा है और जो कुछ होनेवाला है, उसका पूर्वरूप अनर्थका उत्पादक न हो, सुखकारी हो।

इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि हमने पूर्वजन्मोंमें जो दुष्कृत किये हैं वे शान्त हों। यदि यह प्रश्न हो कि जो कर्म हो चुके हैं उनका तो भोगसे ही क्षय होता है फिर इस शान्ति-आशंसनका क्या अर्थ है? ठीक है, अब वे दुष्कृत तो नहीं रहे परन्तु उनके फलस्वरूप पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म हो सकता है। अतः उनकी शान्तिका आशंसन भी युक्तियुक्त है।

'कृताकृत' शब्दका अर्थ है—करना और न करना। अभिप्राय यह है कि जो कर्म हमारे लिए विहित थे, कर्त्तव्य थे, उन्हें तो मैंने नहीं किया। वे अकृत हो गये। और जिन्हें नहीं करना चाहिए था—निषिद्ध थे, वे कृत हो गये । इस प्रकार विहित कर्मका अनुष्ठान न करनेसे और निषिद्ध कर्मका आचरण करनेसे, आश्रम-विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मके अननुष्ठानसे जो दोष उत्पन्न हुआ हो, वह शान्त हो । मनुष्यके पतनके तीन कारण हैं—गुरु-शास्त्रकी आज्ञाका उल्लंघन, उनके द्वारा निषिद्धका सेवन और अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखना।

भूत और भव्य—जो कार्य फलके रूपमें उत्पन्न हो गया है रोग, दुःख, आधि, व्याधि, वह भूत है और जो अभी फलावस्थाको प्राप्त नहीं हुआ है, आगे होनेवाला है, वह भव्य है। वे दोनों शान्त हो जायँ। अभिप्राय यह है कि आया हुआ और आनेवाला—दोनों प्रकारके अनिष्टोंकी शान्ति हो।

बहुत कहनेसे क्या लाभ! सब कुछ—कालत्रयावच्छिन्न, उक्त, अनुक्त सभी कुछ हमारे दोषोंको शान्त करनेवाला हो। मुख्यतः दोष तीन प्रकारके हैं—राग, द्वेष और मोह। ये तीनों हमारे हृदयमें स्थान न बनावें।

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता।
यथैव ससृजे घोरं तथैव शान्तिरस्तु नः॥ 3॥

'यह वाग्देवी (वाणी) परमेष्ठिनी है, सर्वोपरि स्थित है अथवा परमेष्ठी ब्रह्माकी शक्ति है (इसमें सृष्टिके निर्माणका सामर्थ्य है) वेदमन्त्रोंने इसके स्वरूपका प्रतिपादन (शंसन) किया है (स्तुति करनेसे देवताका बल बढ़ता है और कार्यक्षम होता है)। विद्वानोंने अपने भीतर इसका ठीक-ठीक अनुभव किया है। इस वाणीरूप वाग्देवीके द्वारा घोरकी सृष्टि की गयी है। अर्थात् किसीको शाप दिया गया है तो किसीके हृदयमें चोट पहुँचायी गयी है। अब यही वाणी हमारे लिए शान्तिकारक हो, अर्थात् अपने द्वारा जो भयोत्पादक, दुःखदायक वचनोंका उच्चारण किया गया है इस घोर कर्मकी शान्ति करे। इसका अभिप्राय यह है कि अब हम अपनी

वाणीसे ऐसे कटु वचनका उच्चारण न करें जिससे दूसरेके हृदयमें चोट लगे, दुःख हो; अनिष्ट वा अनर्थकी सृष्टि हो।'

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥ 4॥

'परमेष्ठी=ब्रह्मा सर्वोत्कृष्ट स्थानपर स्थित हैं। उन्होंने ही इस असत् मनको सत् बनाया अर्थात् मनकी सृष्टि की। तदनन्तर मनको सृज्य विषयमें तीक्ष्ण बनाया। यही मन सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण है। इसी मनसे घोर कर्मकी सृष्टि की गयी। अब इसी मनके द्वारा उन घोर कर्मोंकी हमारे लिए शान्ति हो।'

सृष्टि-प्रपंचका मूल कारण मन ही है। इसीसे घोर कर्म और अशान्तिकर्म—दोनोंका निर्माण होता है। घोरसे बन्धन और शान्तिसे मुक्ति। यह श्रौत-साधनाका सम्प्रदाय है। इसे प्रवृत्ति-निवृत्ति भी कहते हैं। प्रमाणवृत्ति अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य-बोध साधनजन्य नहीं है, केवल महावाक्यजन्य है। तान्त्रिकपक्षमें, इस मन्त्रमें मनसे घोर और अघोर दोनोंका संकेत है। संवित्तका औन्मुख्यजागरण अभीष्ट है। मन किसी भी दशाको साधन और असाधन बना सकता है। अतः मन सर्वदा आत्म बलका स्पर्श करता रहे; केवल विषयमें अर्थात् देहाभिमान, दैहिक सम्बन्ध और भोगोंमें डूब न जाय। यह मन ही शान्तिका हेतु है।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः
षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं
तैरेव शान्तिरस्तु नः॥ 5॥

'मेरे हृदयमें जो छठे मन सहित पाँच इन्द्रियाँ निवास करती हैं, वे ब्रह्माके द्वारा अर्थात् चेतन आत्मा नियन्ताके द्वारा अपने-अपने विषयमें प्रवण होनेके लिए बनायी गयी हैं। इन्हीं इन्द्रियोंसे घोर अर्थात् पापावह कर्म किये जाते हैं। इन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा अब ऐसे कर्म किये जायँ जिनसे हमारे लिए घोर कर्मोंकी शान्ति हो जाय।'

इसके पहले मन्त्रमें मनका अलगसे वर्णन है। फिर भी इस मन्त्रमें मनके वर्णनकी आवश्यकता है; क्योंकि कोई भी इन्द्रिय मनकी सहायताके बिना अपने-अपने विषयका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। बिना मनके इन्द्रियोंके द्वारा कोई कार्य हो भी जाय तो पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती। कर्तृत्व-बुद्धि अथवा अपेक्षा-बुद्धिसे किये हुए कर्म ही अदृष्ट या संस्कार उत्पन्न करते हैं। उन्हींका फल होता है। इसलिए मनका पुनः वर्णन करना उचित है।

हृदय मनका निवासस्थान है। सुषुप्तिकालमें सभी इन्द्रियाँ अपने विषयोंको छोड़कर अपने हृदयमें लीन हो जाती हैं।

'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है—चेतन आत्मा। यदि वह प्रेरणापूर्वक इन्द्रियोंको विषयोंमें न भेजे तो पाप-पुण्यका प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए **ब्रह्मणा संशितानि**का अर्थ है—कर्तृत्वपूर्वक।

पाप-पुण्यकी उत्पत्ति वाणी, मन और इन्द्रियोंसे होती है। उन्हींसे सुख-दुःख होता है। इसलिए, यदि पुरुष सावधानीसे इनका प्रयोग करे तो यही शान्तिदायक भी हो सकते हैं। शान्ति जीवनमें ही मिलती है और इसके लिए इनका सत्प्रयोग आवश्यक है।

●

: 2 :

श्रद्धा-सूक्त

[ऋग्वेद मं० 10, अ० 11 सू० 141]

ॐ श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ 1॥

'श्रद्धासे अग्नि समिद्ध की जाती है। श्रद्धासे अग्निमें हविष्यका हवन किया जाता है। सम्पूर्ण लौकिक, 'पारलौकिक, अलौकिक सम्पत्तियोंसे श्रेष्ठ श्रद्धा ही है। यह बात हम अपने स्तुति वचनके द्वारा प्रसिद्ध करते हैं।'

श्रद्धा=आदरातिशय—उसी वस्तुको सत्य-रूपमें हृदयमें धारण करना।

श्रत्=सत्, **धा**=आधान।

अग्नि=ब्रह्माग्नि, ज्ञानाग्नि, उपासनाग्नि, योगाग्नि, साधनाग्नि, शास्त्रोक्त रीतिसे प्रतिष्ठापित भौतिक अग्नि।

हविष्य=तत्तत् अग्निके अनुरूप प्रपञ्चकी, अज्ञानकी, विक्षेप आदिकी आहुति।

भग=भगवान्, समाधि, इष्ट देवता, स्वर्ग, भोग, धन।

मूर्धा=श्रेष्ठ, दाता, सिर, आकर।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥ 2॥

'श्रद्धे! दाताका प्रिय करो। दानकी इच्छा करनेवालेका प्रिय करो। इन मेरे भोग चाहनेवाले तथा यज्ञ करनेवाले यजमानोंके लिए मेरे द्वारा प्रार्थित प्रिय अभिलाष पूर्ण करो।'

दाता=त्यागी एवं धनसे लेकर सम्पूर्ण आत्म-प्रपञ्च तकके त्यागका संकल्प करनेवाले।

प्रिय=इष्ट वस्तु ब्रह्म, ज्ञान, समाधि आदि।

दिदासत्=देनेकी इच्छावाला—अर्थात् देनेके पूर्व केवल इच्छा-मात्रसे अपने इष्टकी प्राप्तिके लिए त्यागका संकल्प महान् साधन है।

भोज=लौकिक पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक भोग चाहनेवाले।

यज्वा=जिन्होंने यज्ञ किया है, यज्ञ किसी भी प्रकार शास्त्रोक्त। गीतामें अनेक यज्ञोंका उल्लेख मिलता है।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥ 3॥

'जैसे देवताओंने उग्र असुरोंमें श्रद्धा की, वैसे ही हे श्रद्धे! जो श्रद्धायुक्त भोगार्थी एवं यज्ञकर्त्ता हमसे सम्बद्ध हैं, उन्हें उनके द्वारा प्रार्थित फल प्रदान करो।'

असुर=जो अपने अधिष्ठान अथवा निवासस्थानमें सन्तुष्ट न होकर इधर-उधर चंचल-वृत्ति होकर दौड़ें, उन्हें असुर कहते हैं। देवताओं अथवा इन्द्रियोंके द्वारा जो अपने आन्तर एवं बाह्य निवास-स्थानसे प्रच्युत करके अन्यत्र विषयोंमें भेज दिये गये हैं उन्हें असुर कहते हैं। असु-क्षेपणे-उरण्। अथवा असु प्राणका नाम है। वह शरीरमें क्षिप्त-सा है। प्राणयुक्त अथवा बलवान्को असुर कहते हैं। यह 'मतुप्' के अर्थमें 'र' प्रत्यय है। जो महाप्राण है—दुर्मर है। ऊर्ध्व एवं प्रशस्त देशसे जिसकी सृष्टि हो उसे सुर कहते हैं और जो उसके विपरीत निम्न एवं अध:प्रदेशसे सृष्टि हो उसे 'असुर' कहते हैं। [निरुक्त]

स्वर्गके देवता अपने शत्रु असुरोंको उग्र एवं प्रबल देखकर उनके सम्मुख झुक जाते हैं या सन्धि कर लेते हैं। यह राजनीति है, बलवान्के साथ सन्धि करनेमें ही कल्याण है। जैसे अपनेसे अधिक विद्वान्, गुणवान् महात्मापर श्रद्धा होती है कि यह हमारा हित करेगा, वैसे ही अपनेसे उग्र,

दुष्ट असुरपर भी श्रद्धा होती है कि इसके रहते हम न जी सकेंगे, न रह सकेंगे, न सुखी हो सकेंगे। यह भी उसके बड़प्पनपर एक प्रकारकी श्रद्धा ही है। किसी अन्यकी उपस्थितिसे हम सुखी होते हैं या दुःखी होते हैं—दोनों श्रद्धा ही है। यही राग-द्वेषकी जननी है। देवताओंकी श्रद्धा है कि असुर अवश्य हन्तव्य हैं। (सायण)

इन्द्रियोंके काम, क्रोध, लोभादिसे अनुविद्ध होनेपर शास्त्रविहित रीतिसे धर्मानुकूल गृहस्थाश्रमादि स्वीकार कर लेना चाहिए। चित्तवृत्ति समाधिके अनुकूल न हो या निरोधके योग्य न हो तो उपासनाके द्वारा उसे भगवद्-विषयमें लगाना चाहिए।

इस मन्त्रमें कोई असुर शब्दका अर्थ साधारण सुर देवताओंकी अपेक्षा जो श्रेष्ठ इन्द्र आदि हैं, वे ऐसा करते हैं। अर्थात् जैसे छोटे देवता बड़े देवताओंपर श्रद्धा करते हैं।

हे श्रद्धादेवि! ये हमारे यज्ञकर्त्ता यजमान यद्यपि भोगार्थी हैं, अपने स्वरूपमें परितृप्त ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चाहते हैं; फिर भी तुम इनके सामने झुक जाओ और इनके मनोरथ पूर्ण करो। क्योंकि हमें ज्ञात है कि तुमसे केवल धर्म, अर्थ, कामकी ही सिद्धि नहीं होती, मोक्षकी भी सिद्धि होती है।

श्रद्धया सत्यमाप्यते=श्रद्धासे परमार्थकी उपलब्धि होती है।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विदन्ते वसु॥ 4॥

'यज्ञमें संलग्न देवता एवं मनुष्य वायुदेवताके द्वारा सुरक्षित अर्थात् प्राणवान् होकर श्रद्धादेवीकी उपासना करते हैं—आश्रय लेते हैं। सभी अपनी आन्तरिक हार्दिक संकल्परूपिणी क्रियासे श्रद्धाकी ही उपासना करते हैं। श्रद्धासे ही इष्टवस्तुकी प्राप्ति होती है'

श्रद्धा=सत्को ही श्रत् कहते हैं। **श्रत् इति सत्यनाम।** इसमें रेफ इसलिए जोड़ा गया है कि वह सत् परोक्ष-सा, अप्राप्त-सा हो रहा है। रेफ परोक्षताका सूचक है। वह श्रत् श्रद्धामें निवास करता है। चारों पुरुषार्थोंमें

साध्य-साधनविषयक विपर्ययरहित निश्चयको श्रद्धा कहते हैं। यह सभी साधनोंमें मूर्धन्य है। इसका आधिदैविक रूप श्रद्धा देवी है।

वायुगोप=गोप अर्थात्—रक्षक। वायु—अर्थात् वातावरण। वायु देवता एवं दृढ़निष्ठा—प्राणवत्ता।

आकूति=संकल्परूपा क्रिया।

वसु=श्रद्धावान् मनुष्यका इष्ट जो मनमें भरा है।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ 5॥

'हम प्रात:काल श्रद्धाका आवाहन करते हैं। हम मध्य दिनमें श्रद्धाका आवाहन करते हैं। हम प्रेरणादायी आदित्यके अस्तमनकालमें भी श्रद्धाका आवाहन करते हैं। हे श्रद्धे! हम लोगोंको अपने इष्टकी प्राप्तिके साधनमें श्रद्धावान् बनाओ।'

नाश्रद्दधानाय हविर्जुषन्ति देवाः। श्रद्धारहित पुरुषका हविष्य देवतालोग स्वीकार नहीं करते। श्रद्धाहीनकी इन्द्रियाँ भी भूखी-प्यासी ही रहती हैं। ईश्वरकी प्रसन्नतापर श्रद्धा न हो तो वह भी रुष्ट मालूम पड़ता है। श्रद्धाहीनका वेदान्त-श्रवण भी व्यर्थ है।

●

: 3 :

विष्णु-सूक्त

(1)

[ऋग्वेद मं० 1 सूक्त 154]

विष्णोर्नुकंवार्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ 1 ॥

'मनुष्यो! मैं अत्यन्त तत्परतासे सर्वव्यापी स्वयंप्रकाश विष्णुके पराक्रमका प्रवचन कर रहा हूँ, क्योंकि विष्णुने ही पार्थिव रजस्‌का निर्माण किया है। और भी उन्होंने ही अत्यन्त विस्तीर्ण त्रिलोकाश्रय अन्तरिक्षका भी निर्माण किया है। उन्होंने अपने तीन प्रकारसे पादविन्यास किया। इसी कारण महापुरुष विशिष्ट रूपमें उनका मान करते हैं और वे सर्वत्र विराजमान रहते हैं।'

नु कम्—यह दो पद होनेपर भी निघण्टुके अनुसार एक ही पद है। यास्कने कहा है—**नवोत्तराणि पदानि** दूसरी शाखाओंमें ऐसा पाठ भी मिलता है।

पार्थिवानि रजांसि—यहाँ पृथिव्यादि तीन लोकके अभिमानी देवता अग्नि, वायु, आदित्यके रञ्जनात्मक रूपको ही रजस् कहा गया है। 'पृथिवी' शब्दका अर्थ तीनों लोक है। अभिप्राय यह है कि विष्णुने ही अन्तरिक्ष और अन्तरिक्षाश्रित लोकोंकी सृष्टि की। **रजस्** शब्द लोकवाची है। यास्कने कहा है—**लोंका रजांसि उच्यन्ते**। उपार्जित कर्मोंके भोगके लिए चित्र-विचित्र लोकोंकी अपेक्षा होती है; इसीसे कर्मफलदाता विष्णु उनके निर्माता कहे गये हैं। इसमें नीचेके सात लोक और ऊपरके सात लोक तथा सत्यलोकका भी ग्रहण है।

विष्णुका चंक्रमण भी दो प्रकारका है। सगुण दृष्टिसे एक पादमें सृष्टि है और तीन पाद सच्चिदानन्द हैं। भगवान् विष्णु इन्हीं तीन पादोंसे सत्, चित्,

आनन्द रूपमें सर्वत्र व्याप्त हैं। अस्ति, भाति, प्रिय उनका रूप है और नामरूपात्मक सृष्टि। निर्गुण-दृष्टिसे तीन पाद मायाके हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। उनमें भगवान्, विष्णु ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्के रूपमें विचरण करते हैं। वे स्वयं तुरीयपाद हैं। ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंमें इसका वर्णन आता है कि विष्णुने त्रिधा पादविन्यास किया। वे स्वयं तुरीय हैं। इसी आधारपर पुराणोंमें त्रिविक्रम द्वारा तीन पादमें सृष्टि नाप लेनेकी कथा है।

प्रतद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥ 2॥

'सभी महापुरुष उन महानुभाव विष्णुकी, उनके पराक्रमोंका वर्णन करके स्तुति करते हैं, जैसे सिंहसे सब भयभीत रहते हैं, सिंह पृथिवीमें सर्वत्र विचरणशील होता है और गिरिगुहाओंमें निवास करता है, वैसे ही विष्णुके भयसे वायु, सूर्य अपनी-अपनी मर्यादामें स्थित रहते हैं। विष्णु सर्वत्र व्यापक हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंकी हृदयगुहामें निवास करते हैं, दृढ़ प्रेमकी ऊँचाइयोंपर प्रतिष्ठित होते हैं अथवा वेदवाणीमें उपलब्ध होते हैं। इन्हीं विष्णुके विस्तीर्ण तीन पादविन्यासोंमें सर्वलोक और प्राणी निवास करते हैं। इसीसे विष्णुकी सब स्तुति करते हैं।'

मृग शब्द समस्त चतुष्पाद जातिका वाचक है। वह मृगशीर्ष और मार्गणाके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। जो अपने शुत्रकी मार्गणा करे सो मृग। यहाँ मृग मृगेन्द्रका वाचक है। **मृज्** धातु शुद्ध्यर्थक होनेपर भी गति अर्थमें प्रयुक्त है। धातुएँ अनेकार्थक होती हैं।

न शब्द उपमा इवका वाचक है। (निरुक्त)

भीम शब्दका अर्थ है, जिससे सब डरें—**भीषास्माद् वातः पवते**—श्रुति।

कुचर शब्द प्राणिवधरूप कुत्सित कर्म करनेवाले सिंहके लिए है; परन्तु विष्णु भगवान्के लिए प्रयुक्त होनेपर इसका अर्थ होता है—**क्वायं न चरति**। यह कहाँ विचरण नहीं करता अर्थात् सर्वत्र व्यापक है।

गिरिष्ठ शब्दका अर्थ है गिरिस्थायी। यह शब्द ऊर्ध्वलोकमें स्थित विष्णुके लिए, मेघवाहन इन्द्रके लिए और पर्वतस्थ सिंहके लिए प्रयुक्त होता

है। 'गिरि' शब्दका अर्थ समुद्गीर्ण प्रीति भी है। उसमें निवास करनेवालेको 'गिरिष्ठ' कहते हैं। विचारकी उच्चता और दृढता भी 'गिरि' है। **गीः** शब्दके सप्तमीके एक वचनमें **गिरि** बनता है। वेद-वाणीमें **ष्ठा**का अर्थ है; निवासी। वेदवाणीमें उसके परम तात्पर्य रूपसे जो निवास करता हो।

यहाँ चतुष्पाद मृगके रूपमें परमात्माका वर्णन माण्डूक्योपनिषत्के चतुष्पाद आत्मा और पौराणिकोंके वराह, सिंह, हयग्रीव आदि रूपोंका स्मरण दिलाता है। यह कहना कि उसके तीन पादविन्यासमें सम्पूर्ण भुवन निवास करते हैं—प्राज्ञ, तैजस और विश्वके स्थान, जाग्रत्-स्वप्न-सुषप्तिके सूचक जान पड़ते हैं।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः॥ 3॥

'हमारे कर्त्तव्यपालन, धर्मानुष्ठान, उपासना आदिसे जन्य महत्त्व, विचार, मति और स्तुति सब सर्वव्यापी विष्णु भगवान्को ही प्राप्त हों। उनका निवास-स्थान वेदके एक-एक मन्त्रमें है अथवा वे सबसे परे सर्वोन्नत प्रदेशमें विराजमान रहते हैं। महापुरुष भाँति-भाँतिसे उनका गान करते हैं। वे अपने भक्तोंके कामवर्षी हैं। उनकी कैसी अपार महिमा है कि उन्होंने बिना किसी दूसरोकी सहायताके **एकमेवाद्वितीयम्** रहकर ही अपने तीस पदोंसे इन दृश्यमान अत्यन्त विस्तृत नियत गतिसे चलनेवाले तीनों लोकोंका निर्माण कर दिया।'

हमारे सब कर्म और उनसे प्राप्त होनेवाले बल, फल व्यापक दृष्टिकोणसे ही होने चाहिए। अपने संकीर्ण व्यक्तित्व, जातीयता, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीय आदि क्षुद्र स्वार्थोंसे ऊपर उठकर विश्वव्यापी विष्णुके लिए ही सब काम करने चाहिए।

शूषं का अर्थ है बल, महत्त्व। वेङ्कटनाथने **शूष** का अर्थ 'बनकर' माना है और उसको **मन्म** अर्थात् स्तोत्रका विशेषण माना है।

मन्म—का अर्थ सायणने मनन, स्तोत्र अथवा बलका विशेषण माननीय माना है।

इस मन्त्रमें पौराणिकोंके वैकुण्ठ लोकका भी आधार विद्यमान है। वह विष्णु स्वयं तुरीय रूपमें रहकर अपने तीन पादोंसे सत्व, रज, मत, त्रिलोकी, त्रिपुटी, अवस्थात्रय आदिका निम्रण करते हैं। इस औपानिषद प्रक्रियाके लिए भी इस मन्त्रमें सूत्र विद्यमान है।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुतद्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥ 4॥

'वेदवेद्य एवं लोकप्रसिद्ध विष्णुके तीन पादविन्यास मधुरातिमधुर दिव्य अमृतसे परिपूर्ण हैं। वे कभी क्षीण नहीं होते और अन्नसे स्वाश्रित जनोंको आनन्दित करते रहते हैं। उन्होंने ही पृथिवी, द्योतनात्मक अन्तरिक्ष, सम्पूर्ण भुवन सारे प्राणी और चौदहों लोकोंको धारण कर रखा है। वे एकमेवाद्वितीयं हैं। वे ही पृथिवी, जल, तेजरूप तीन धातुओंको भूत, वर्तमान, भविष्यरूप तीनों कालोंको अन्तर, बहिः,मध्यरूप तीन देशोंको तथा सत्त्व, रज, तमरूप तीन गुणोंको धारण करते हैं।'

सायणने **पृथिवी** शब्दका यह अर्थ भी बताया है कि इसके नीचेके अतल, वितल आदि सात भुवनोंका ग्रहण होता है और द्यु शब्दसे भूर्भुवः आदि सात ऊर्ध्व भुवनोंका। इस प्रकार चौदहों भुवन और उनमें रहनेवाले प्राणियोंका आधार विष्णु परमात्मा ही है।

तीन धातुओंके समाहारको त्रिधातु कहते हैं। कारण और आधार दोनों एक हैं। विष्णु चेतन है; इसलिए दृश्यमान जड़ सृष्टिका कारण और धारण होना आरम्भक या परिणामोंके रूपमें नहीं हो सकता। वह स्वयं एक और एकरस रहकर ही अपनेसे बाहर नहीं, अपने-आपमें ही सबको प्रकाशित कर रहा है।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥ 5॥

'इस महान् सर्वव्यापी विष्णुके सर्वाभीष्ट परम प्रिय अविनाशी धामको मैं अवश्य प्राप्त करूँ। उस ब्रह्मलोक (वैकुण्ठ) में ही परम प्रकाशमय विष्णु भगवान्को साधनोंके द्वारा चाहनेवाले परमानन्दका

अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण जगत्‌में विविध रीतिसे पादविन्यास करनेवाले उरुक्रम त्रिविक्रम विष्णुका अर्थात् सर्वव्यापी परमेश्वरका वही सर्वोत्कृष्ट निरतिशय केवल सुखात्मक पद अर्थात् स्थान है और वहींसे मधुमयी अमृतधारा प्रवाहित होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण पुण्यात्माओंके सबसे बड़े हितकारी वही परमेश्वर विष्णु हैं। यह बात श्रुति, स्मृति, पुराण आदिमें प्रसिद्ध है।'

पाथस्—का अर्थ अन्तरिक्ष है (निरुक्त)। इसका अभिप्राय है अविनश्वर ब्रह्मलोक।

अश्यां—अर्थात् व्याप्त हो जाऊँ। मैं उस व्यापक अविनाशी लोकसे एकत्व अर्थात् तादात्म्यका अनुभव करूँ।

मध्वः, मधुनः, मधुरस्य उत्सः निष्यन्दः—मधुर धाराका उद्गम। वेङ्कटनाथने लिखा है—'विष्णुका परम पद अन्तरिक्ष उदकका उद्गम स्थान है।' सायणका कहना है 'कि उस विष्णुधाममें क्षुधा, पिपासा, जरा, मरण और पुनरावृत्ति आदिका भय नहीं है। वहाँ सङ्कल्पमात्रसे अमृतकुल्या आदि भोग प्राप्त होते हैं। न उससे बड़ा कोई लोक है और न विष्णुसे बड़ा कोई बन्धु है। इस सर्वव्यापी पदकी प्राप्ति हो जानेपर जीव जन्म-मरणके आवर्त्तसे मुक्त हो जाता है।

इस मन्त्रमें पौराणिक वैकुण्ठधामके निरूपणका मूल आधार प्राप्त होता है और गंगा विष्णुपदी है, इसका भी संकेत प्राप्त होता है। अन्तरिक्ष जिसका लोक है, प्रकाशात्मक व्याप्ति जिसका स्वभाव है, सम्पूर्ण कल्याण-कामियोंका जो सर्वोत्कृष्ट तृप्तिस्थान है, जो निरतिशय है और परमानन्दका उत्स है; वही वाञ्छनीय है और उससे मैं एक हो जाऊँ, यही सर्वोत्कृष्ट अभिलाषा है। देवताविशेष विष्णुका धाम, अधिष्ठान, प्रकाशक, ब्रह्म वही है। इस औपनिषदी प्रक्रियाका भी यहाँ सङ्केत मिलता है।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ 6॥

'हे स्त्री पुरुषो! हम तुम्हारे लिए उन प्रसिद्ध सुखपूर्वक निवास योग्य स्थानोंकी प्राप्तिके लिए विष्णु भगवान्से प्रार्थना करते हैं, जिसमें बहुत-सी अत्यन्त प्रकाशमान रश्मियाँ अथवा बहुत सींगवाली गौएँ सर्वदा चलती-फिरती रहती हैं, इस निवासयोग्य स्थानके आधारभूत द्युलोकमें महापुरुषोंके द्वारा स्तुति करने योग्य कामवर्षी महागति विष्णुका परम प्रसिद्ध निरतिशय पद सर्वातिशायी रूपमें अपनी महिमासे देदीप्यमान हो रहा है।'

यास्कने निरुक्तमें गो शब्द रश्मिवाचक है, यह व्याख्या करनेके लिए इस मन्त्रका अभिप्राय व्यक्त किया है। ये रश्मियाँ (किरणें) सद्वस्तुसे निकलती हैं, इसलिए इन्हें भूरि कहते हैं। उन्होंने श्रृङ्ग शब्दकी व्युत्पत्ति बतानेके लिए अनेक धातुओंका उल्लेख किया है। **श्रिञ् सेवायां, श्रञ् हिंसायां, शमु हिंसायाम्।** दूसरी व्युत्पत्ति उन्होंने दो धातुओंसे बतायी हैं; यथा—**शरण** (हिंसा या रक्षा)के लिए उद्गत अथवा सिरसे निर्गत।

विष् लृ व्याप्तौ-से 'विष्णु' शब्द बना है। इसका अर्थ है महागति।

अनेक महानुभावोंने इस मन्त्रमें गोलोक अथवा व्रजधामका वर्णन माना है; क्योंकि यजुर्वेदमें गोष्ठान, गोष्ठ अथवा गायोंके निवास-स्थानको ही व्रज कहा गया है—**व्रजं गच्छ गोष्ठानम्। पारमेष्ठ्य** अपलोक गायोंकी उत्पत्तिका स्थान है। सामवेदमें गोसव यज्ञके आयतन रूपमें उसका निश्चय किया गया है (देखिये ताण्ड्य ब्राह्मण)। विद्यावाचस्पति महामहोपाध्याय पण्डित मधुसूदन झाने इस मन्त्रका संस्कृत भाषामें ऐसा रूपान्तर किया है—

तानि युवयोः स्थानानि वाञ्छामो गन्तुं यत्र गावो बहुश्रृङ्गाः संचरन्ति।
अत्र खलु तन्महायशसो विष्णोः परम धाम विद्योतते बहु॥

इस मन्त्रका आध्यात्मिक भाव ऐसा समझना चाहिए कि अन्तर्देशके गुह्यतम प्रदेशमें एक ऐसा स्थान है, जहाँसे चिदाभासयुक्त असंख्य वृत्ति-रश्मियाँ बहिरन्तर गमनागमन करती रहती हैं। उनके केन्द्रबिन्दु स्वयं सर्वव्यापी विष्णु कृष्ण आत्मदेव हैं। परमात्माकी उपलब्धिका वही सर्वोत्तम स्थान है। ●

: 4 :

विष्णु-सूक्त

(2)

[ऋग्वेद मं० 1. अ० 2. सू० 156.]

भवा मित्रो न शेव्यो घृतासुतिर्विभूतद्युम्न एवया उ सप्रथाः।
अधा ते विष्णो चिदर्ध्यः स्तोमो यज्ञश्च राध्यो हविष्मता॥ 1॥

'हे सर्वव्यापी विष्णुदेव! आप हमारे सूर्यके समान प्रकाशक मित्र हैं। आप ही हमारी सीमाओंके सम्पूर्ण बन्धन काटकर सर्वविध दु:खोंसे त्राण करते हैं और असीम बन्धनमुक्त सुखका दान करते हैं। आप घृतके जन्मदाता हैं तथा घृताहुतियोंके द्वारा पूजित होते हैं। आपका यश एवं अन्न महान् है। आप ही सबको सुरक्षित रखते हैं। और सबसे बड़े हैं। सचमुच ही आप हमारे लिए भी ऐसे ही हों। हृदयेश्वर! अत: आप ऐसे हैं, इसलिए आपके माहात्म्यके ज्ञाता यजमानको बारम्बार आपके स्तोत्रकी वृद्धि करनी चाहिए। यज्ञोंके द्वारा हाथमें हविष्य लेकर आपकी पूजा करनी चाहिए।'

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत्॥ 2॥

जो मनुष्य सनातन, जगत्कर्त्ता, नित्यनूतन, परम सुन्दर, स्तवनीय, स्वयम्भू एवं ललनाललाम, प्रमदाशिरोमणि लक्ष्मीके पति विष्णु भगवान्‌को हविष्य आदिका समर्पण करता है और इन महानुभावके महान्, पूजनीय हिरण्यगर्भादिरूप जन्मका संकीर्तन करता है, वह भी अन्न और कीर्तिसे युक्त होकर सबके परम गन्तव्य भगवत्पदको प्राप्त होता है।

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।

आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥ 3॥

'हे भगवद्गुणानुवाद-रसिक सत्पुरुषो! उस अनादिसिद्ध सनातन परमात्माको तुम जैसा जानते हो; वैसा ही अपने सहज निष्काम जीवनसे आजीवन तृप्त करो, प्रीतिपूर्वक उसकी भक्ति करो; क्योंकि वही कारणवारिका जनक, यज्ञात्मा, परमसत्य, ऋतदेव है।'

इस सर्वात्मा विष्णुके चिन्मय नामको हो सर्वत्र परिपूर्ण देखते हुए उसका संकीर्तन करो। हे सर्वव्यापी सर्वकारण-कारण प्रभो! आप महान् हैं। हम आपकी सुमतिका भजन-सेवन करते हैं।

तमस्य राजा वरुणास्तमश्विना ऋतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः।

दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं ब्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते॥ 4॥

'भगवान् विष्णु सम्पूर्ण देवगणोंके विधाता हैं। उन्हींके स्थिति, पालनादि रूप कर्मका सेवन-अनुमगन राजा वरुण, अश्विनीकुमार आदि देवता करते हैं; क्योंकि सम्पूर्ण पालन-क्रिया विष्णुके अधीन है। वही इन्द्र आदि सहायकोंसे युक्त होकर अत्यन्त उत्कृष्ट स्वर्गोत्पादक एवं दक्षतासे युक्त बल धारण करते हैं और वही ब्रजको निरावरण करते हैं।'

[सायणने इस मन्त्रके दो अर्थ किये हैं—पहले अर्थमें ऋत्विज और देवताओंके संघातसे युक्त मेधावी यजमानके यज्ञरूप विष्णुका स्तवन है और दूसरेमें देवताओंके जनक विष्णुका। पहले अर्थमें व्रजका अर्थ मेघ है और दूसरे अर्थमें व्रज गोष्ठ है। यजुः संहितामें ब्रजको गोष्ठान कहा गया है। इस अर्थमें श्रीकृष्णलीलाका बीज भी इस मन्त्रमें है। देवताओंकी सहायतासे गोविन्दलीला ध्वनित होती है और व्रजके निरावरणसे गोपियोंके आवरणभङ्गकी लीला। वरुणादि देवताओंने श्रीकृष्णकी पूजा की ही है]

आ यो विवाय सचथाय दैव्य इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः।

वेधा अजिन्वत् त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत्॥ 5॥

'विष्णु भगवान् दिव्य प्रकाशमय लोकमें निवास करते हैं। शुभ फलदाताओंमें वही सर्वश्रेष्ठ हैं। वह शुभ कर्म यज्ञात्मक समर्पणमें सहायता करनेके लिए अपने गुणानुवादगायक स्तुतिकर्त्ता सर्वस्वार्पणशील यजमानभक्तके पास स्वयं पधारते हैं। अर्थात् भक्तको दर्शन देते हैं। विष्णुका निवास-स्थान है तीनों सवन अथवा द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी। वे ही विधाता हैं। वे अपने श्रेष्ठ सर्वमेधी यजमान भक्तको तृप्त करते हैं। वे यज्ञभागमें यजमानको भी अपने साथ बैठाते हैं अथवा भक्तको यज्ञफलका स्वामी बना देते हैं।'

[इस मन्त्रमें अनेक उपयोगी पदार्थोंका निरूपण हुआ है विष्णुका निवास-स्थान दिव्य एवं त्रिलोक है। वे शुभकर्ममें सहायक और उसके फलदाता हैं। वे अपने भक्तके पास आकर वरदान देते हैं, उसको प्रसन्न करते हैं, पास बैठाते हैं, उसके साथ भोजन करते हैं और उसमें भी भक्तिका फल देनवाली शक्तिका सञ्चार कर देते हैं।]

●

पुरुष-सूक्त

[ऋग्वेद 10-90, यजुर्वेद अध्याय 31]

ॐ सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ 1॥

'आदि पुरुष असंख्य सिर, असंख्य नेत्र और असंख्य पादसे युक्त था। वह पृथिवीको सब ओरसे घेरकर भी दस अंगुल अधिक ही था।'

इस सूक्तके नारायण ऋषि हैं। शुक्लयजुर्वेद-संहितामें 'विश्वतो वृत्वा' के स्थानपर 'सर्वतः स्पृत्वा' पाठ है। उब्बटके अनुसार मोक्षमें इसका विनयोग है। 'पुरुष' देवता है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि भूतकालिक क्रियाका अर्थ केवल 'था' नहीं है, 'है' और 'होगा' भी है। काल विवक्षित नहीं है, सत्तामें तात्पर्य है। इसी आदि पुरुष अथवा पुरुषोत्तमसे विराट् अर्थात् माया प्रकट होती है और उससे ब्रह्माण्ड पुरुष। उनका वर्णन पाँचवीं ऋचासे प्रारम्भ होता है। प्रथम पुरुष ब्रह्म है और विराट्से उत्पन्न द्वितीय पुरुष यज्ञकी सामग्री। पुरुषके द्वारा ही पुरुषकी आराधना होती है। ब्रह्माण्ड और जीव आदि पुरुषसे अभिन्न हैं और उसीकी पूजा, बलि, समर्पणके लिए हैं। अथवा उसीमें लीन या बाधित करनेके लिए हैं। आदि पुरुष परम सत्य है और विराट् तथा द्वितीय पुरुष अनिर्वचनीय=आपेक्षिक सत्य हैं।

पुरुष-'पूः' शब्दका अर्थ है—शरीर अथवा बुद्धि। 'ष'का अर्थ है—सीदन्=निवास। जो विषयोपलब्धिके लिए शरीर या बुद्धिमें निवास करता है, उसे पुरुष कहते हैं। पुरमें शयन करनेके कारण भी उसकी 'पुरुष' संज्ञा है। पूरणार्थक 'पृ' धातुसे 'पुरुष' शब्द बनता है। इसका अभिप्राय है जो बाहर-भीतर परिपूर्ण है, वह ब्रह्म ही पुरुष है (देखिये निरुक्त)। वेद भी इसी अर्थमें 'पुरुष' शब्दका प्रयोग करता है—**तेनेदं पूर्ण पुरुषेण सर्वम्।**

सायणका अभिप्राय है कि यह सम्पूर्ण प्राणियोंके समष्टिरूप विराट्

ब्रह्माण्ड देहका ही पुरुषपर आरोप करके वर्णन किया गया है। इसीसे सब प्राणियोंके सिर, नेत्र, चरणको उसीका कहा गया है। सहस्र संख्यामें तात्पर्य नहीं है। नहीं तो, सभी अंगोंको सहस्र ही क्यों कहा जाता? दस अंगुलको उन्होंने उपलक्षण माना है, अर्थात् वह सबमें रहकर भी सबसे परे भी अखण्ड रूपसे परिपूर्ण है।

वेङ्कटनाथका व्याख्यान ऐसा है कि नारायणने यह संकल्प किया कि मैं सबसे परे और स्वयं सब हो जाऊँ। उन्होंने पुरुषमेध पञ्चरात्र यज्ञक्रतुका दर्शन किया। इसीसे वे सम्पूर्ण भूतोंसे श्रेष्ठ और सर्वरूप हो गये (वाजसनेय ब्राह्मण)।

जैसे प्रत्यक्ष अग्नियोंके द्वारा परोक्ष अग्निकी स्तुति की जाती है; उसीप्रकार लौकिक पुरुषोंके द्वारा परोक्ष पुरुषकी स्तुति की जाती है। यह सब उसीका शरीर है, जैसाकि गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनको दिखलाया है।

उव्वटने कहा है कि यह यज्ञ पुरुषोत्तमके प्रति पुरुष और उसके सर्वस्वका समर्पण है। अत: पुरुषमेध है। इसमें परमात्माका विज्ञान और आनन्दादि गुण परिपूर्णरूपसे विद्यमान हैं। यह स्वर्ग, अपवर्ग, ऐश्वर्य एवं मोक्षका दाता है। यह शरीर ही यज्ञ है और इससे ज्ञान-कर्मका समुच्चय होता है। इसमें पुरुष ही पुरुषका अन्न बताया गया है। महर्षि शौनकने राजा जनकको मोक्षके उद्देश्यसे इसका भाष्य करके उपदेश किया है।

इन्होंने 'दंशागुल' शब्दका अर्थ किया है—दस इन्द्रियाँ, दस अंगुलका हृदय, दशांगुल नासिकाग्र।

महीधरने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि यहाँ 'पुरुष' शब्दका अर्थ है—प्रकृति-महत्तत्त्वादिसे विलक्षण चेतन पुरुष। उपनिषदोंमें उसे ही **पुरुषान्न परं किञ्चित्** कहा गया है। उसीका शरीर है—सर्वप्राणियोंका समष्टिरूप ब्रह्माण्डदेह विराट्। 'सहस्र' शब्दका अर्थ संख्या नहीं, बहुत्त्व है। अक्षिसे सब ज्ञानेन्द्रिय और पादसे सब कर्मेन्द्रिय। 'स्पृत्वा' का अर्थ व्यापक है। 'भूमि' शब्दका पंचभूत। 'दशांगुल' का अर्थ है—ब्रह्माण्डके बाहर-भीतर, सब।

कोई-कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि 'शीर्ष' शब्दसे चिति, ज्ञान, अनुभव समझना चाहिए। 'अक्षि' शब्दसे दर्शन, निरीक्षण और शासन। 'पाद' शब्दका अर्थ गति, धारण , रक्षण, प्रापण है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।। 2 ।।

'यह जो वर्तमान जगत् है, वह सब पुरुष ही है। जो पहले था और आगे होगा, वह भी पुरुष ही है; क्योंकि वह अमृतत्वका, देवत्वका स्वामी है। वह प्राणियोंके कर्मानुसार भोग देनेके लिए अपनी कारणावस्थाका अतिक्रम करके दृश्यमान जगत्-अवस्थाको स्वीकार करता है, इसलिए यह जगत् उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है।'

वेङ्कटनाथने 'इदं सर्वम्'का अर्थ किया है—स्थावर-जंगम। वह अमृतत्वका ईशान है—इसका अभिप्राय यह बतलाया गया है कि उसीसे सब जीवित है, उसके बिना सब मृत है।

शुक्ल यजुर्वेदमें 'भव्यम्' के स्थानपर 'भाव्यम्' पाठ है। वह काल-त्रयका ईशान=स्वामी तो है ही, मोक्षका भी स्वामी है। वह अन्न अर्थात् अमृतके द्वारा सबका अतिरोध करता है। ऐसा उवट-भाष्यमें कहा गया है।

महीधरने कहा है कि जैसे इस कल्पमें सभी प्राणियोंके देह विराट् पुरुषके अवयव हैं, वैसे ही अतीत कल्प और भविष्य कल्पमें भी होते हैं। वह देवस्वामी है और जीवोंको भोग्यफल देनेके लिए ही जगत् बनता है। जगत् वास्तविक नहीं है।

इस मन्त्रके भाष्यमें महीधरने यह प्रश्न उठाया है कि सब कुछ पुरुष ही है तो वह परिणामी होगा। इसका समाधान करनेके लिए अमृतत्त्व अथवा मुक्तिका स्वामी है। जो मोक्षका ईश्वर होगा, वह भला, कैसे मरेगा? वह जन्म-नाशवाले जगत्का तो स्वामी है ही, कीट-पतंगसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त जीवोंका भी स्वामी है। उसीसे सबका जीवन प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर पुरुषसूक्तकी विशद व्याख्या की गयी है। सब कुछ वही है और सबसे परे भी वही है! बाहर-भीतर वही है!

अभय–अमृतका स्वामी वही है। पुरुषके अवयवोंसे ही सामग्रीका निर्माण करके पुरुषकी पूजा की जाती है। पुरुषावयवके अतिरिक्त देश, काल, वस्तु, मन्त्र, देवता, संकल्प, गति, मति, श्रद्धा आदि कुछ नहीं हैं। यजमान, यज्ञ और पशु भी वही है। उसीसे उसकी आराधना होती है।(देखिये 2–6)

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ 3॥

'अतीत, अनागत एवं वर्तमान रूप जितना जगत् है उतना सब इस पुरुषकी महिमा अर्थात् एक प्रकारका विशेष सामर्थ्य है=वैभव है, वास्तवस्वरूप नहीं। वास्तवपुरुष तो महिमासे भी बहुत बड़ा है। सम्पूर्ण त्रिकालवर्ती भूत इसके चतुर्थ पादमें है। इसके अवशिष्ट सच्चिदानन्द-स्वरूप तीन पाद अमृतस्वरूप हैं, और अपने स्वयं प्रकाश द्योतनात्मक-रूपमें निवास करते हैं।'

टिप्पणी—सायणाचार्यका कहना है कि वेदोक्त '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' सब प्रकारके परिणामसे रहित अनन्त है। अतः उसमें चार पादकी कल्पना करना अशक्य है, फिर भी परमार्थ सत् ब्रह्मकी अपेक्षा यह जगत् न्यूनसत्ताक है, अतएव अनिर्वचनीय है। साथ ही परब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है, यह संकेत करनेके लिए ही पादका निरूपण है।

वेङ्कटनाथने भी सायणके समान ही मन्त्रार्थ किया है। वे इतना विशेष कहते हैं कि चतुर्थ पाद जन्म–मरणसे युक्त है। वे भी वेद–वचन उद्धृत करते हैं कि परमात्मा अजन्मा रहकर ही अनेक प्रकारसे प्रकट होता है। धीर पुरुष उसके परमार्थ–स्वरूपको देखते हैं।

उवटाचार्यका कथन है कि चौदह भुवनमें जितने प्रकारके प्राणी हैं। सब इसके एक अंश हैं। तीन अंश अमृत हैं। वे हैं—ऋक्, यजुः, साम अथवा आदित्य। महीधर और सायणका भाष्य मिलता–जुलता है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्याक्रामत्साशनानशने अभि॥ 4॥

'त्रिपाद् पुरुष संसार रहित ब्रह्मस्वरूप है। वह अज्ञानकार्य संसारसे

विलक्षण और इसके गुण-दोषोंसे अस्पृष्ट है। इसका जो किञ्चिन् मात्र अंश मायामें है वही पुनः-पुनः सृष्टि-संहारके रूपमें आता-जाता रहता है। यह मायिक अंश ही देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विविध रूपोंमें व्याप्त है। वही सभोजन प्राणी है और निर्भोजन जड़ है। सारी विविधता इस चतुर्थांशकी ही है।'

सायणने इस मन्त्रके भाष्यमें गीताका **'एकांशेन स्थितो जगत्'०** यह श्लोक उद्धृत किया है।

वेङ्कटनाथने साशन और निरशनके रूपमें देव, मनुष्य और वृक्षादिकी व्याख्या की है। इन प्राणियोंको भोग देनेके लिए ही ईश्वर अनेक रूप होता है।

उवटने साशन और अनशन शब्दोंका अर्थ स्वर्ग एवं मोक्ष किया है। जीवोंको इनकी प्राप्ति करानेके लिए ही ईश्वर जगत्‌के रूपमें प्रकट हुआ है। उनका यह भी कहना है कि एक पाद ही सबीज है, त्रिपाद निर्बीज है।

महीधरने 'त्रिपाद पुरुषका अर्थ' 'संसार-स्पर्शरहित ब्रह्म' किया है। वह इस अज्ञान-कार्य संसारसे विनिर्मुक्त है और इसके गुण-दोषोंसे असंस्पृष्ट है; यही उसकी ऊर्ध्वरूपता है। उसका चतुर्थपाद अर्थात् लेशमात्र जगत् है जो कि मायामें गमनागमनको प्राप्त होता है। 'विष्वक्' शब्दका अर्थ है—'विषु' अर्थात् सर्वत्र 'अञ्चति' माने व्याप्त। जो मायामें आकर देव, पशु, पक्षी आदिके रूपमें होता है। 'साशन' का अर्थ है—भोक्ता प्राणी। 'अनशन' का अर्थ है—अभोक्ता, अचेतन, जड़। 'अभि' का अर्थ है—उनकी ओर दृष्टि करके। वह स्वयं विविध रूप हो जाता है।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पाश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ 5॥

'उस आदि पुरुषसे विराट् ब्रह्माण्ड देहकी उत्पत्ति हुई। विराट् देहको ही अधिकरण बनाकर उसका अभिमानी एक और पुरुष प्रकट हुआ। वह पुरुष प्रकट होकर विराट्‌से पृथक् देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके रूपमें हो गया। उसके बाद पृथिवीकी सृष्टि हुई और जीवोंके निवासयोग्य सप्त धातुओंके शरीर बने।'

सायणने विराट् शब्दका अर्थ किया है—जो विविध वस्तुओंसे विराजित हो। ब्रह्माण्ड देहमें प्रकट अभिमानी पुरुषको वे जीव कहते हैं। वेदान्तवेद्य परमात्मा स्वयं ही अपनी मायासे ब्रह्माण्डरूप विराट् देहका निर्माण करके उसमें जीवरूपसे प्रविष्ट हुआ है। यह देवतात्मा है। नृसिंहतापनी (2-1-9) में कहा गया है कि, 'परमात्मा अपनी मायासे भूत, इन्द्रिय, विराट्, देवता और कोशोंकी सृष्टि करके तथा उनमें प्रवेश करके अमूढ़ होनेपर भी मूढ़के समान व्यवहार कर रहा है। यह सब उसकी माया है।'

वेङ्कटनाथका अभिप्राय है कि आदि पुरुषसे विराट् पुरुषकी उत्पत्ति हुई—इसका अर्थ है, ब्रह्माका जन्म। मनुस्मृति (1.32) के अनुसार वह स्त्री-पुरुषात्मक है और उसीसे यज्ञ पुरुषकी उत्पत्ति होती है। पुरुषमेधका अर्थ है—अहं और इदं—सब कुछ आदि पुरुषसे पृथक् नहीं है, ऐसा भाव।

उवट भाष्यमें कहा गया है कि आदि पुरुषसे विराट्, विराट्से अधिपुरुष अर्थात् प्रधान तेज। वही क्षेत्रज्ञ सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा है। इसके पश्चात् दूसरी सृष्टि हुई। सायण और महीधरका भाष्य एक-सा है।

किसी-किसीका कथन है 'विराट्' शब्दका अर्थ माया है। **विविधं विपरीतं वा राजते इति विराट्।** यह स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनोंमें बनेगा। अर्थात् एक ही परमात्मा इस मायाके कारण विविध अथवा विपरीतरूपमें भास रहा है। विपरीत-रूपता ही विवर्त है। ब्रह्मा, विविधता, भूमि, शरीरभेद—यह सब आदि पुरुषमें मायिक हैं और उसीसे उसकी अराधना करनेके लिए उपयोगी हैं। इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

ॐ यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ 6॥

'देवताओंने उसी उत्पन्न द्वितीय पुरुषको हविष्य मानकर उसीके द्वारा मानस-यज्ञका अनुष्ठान किया। इस यज्ञमें वसन्त ऋतु आज्यके रूपमें ग्रीष्म ऋतु इन्धनके रूपमें और शरद् ऋतु हविष्यके रूपमें संकल्पित की गयी।'

जब पूर्वोक्त क्रमसे शरीरोंकी उत्पत्ति हो गयी तब देवताओंने उत्तर-सृष्टिकी सिद्धिके लिए यज्ञ करनेका निश्चय किया; परन्तु उस समय कोई बाह्य द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ था। अतः यज्ञके लिए कोई दूसरा हविष्य नहीं था। ऐसी परिस्थितिमें उन्होंने आदि पुरुषकी आराधनाके लिए द्वितीय पुरुषके शरीरको ही हविष्यके रूपमें मनसे कल्पित किया और पुरुषसे ही पुरुषकी आराधना की। पहले सामान्य हविके रूपमें पुरुषको संकल्पित किया और अनन्तर विशेष हविके रूपमें वसन्तादिका।

वेङ्कटनाथका कथन है कि द्वितीय पुरुषको ही अश्वके रूपमें माना गया और वही हविष्यका मुख्य रूप है। कार्यरूप अपने कारणसे अभिन्न है—यह दृष्टि ही यज्ञ है। वसन्तको आज्य इसीलिए कहा गया कि वह रसोंका उत्पादक है। ग्रीष्म शोषक होनेसे इध्म है। अन्नोत्पादिका शरद् ऋतु हविष्य है।

एक टीकाकार कहते हैं कि वसन्त ऋतु आज्यप्रचुर है। ग्रीष्ममें पलाशादि अधिकतासे प्राप्त होते हैं और शरद् शस्य-प्रचुर है। अतः मानस-यज्ञमें आज्यादिके रूपमें इनका ध्यान होता है।

शुक्ल यजुर्वेदसंहिता अध्याय 31वें में चौदहवीं कण्डिकाके रूपमें है। उवटने इसके भाष्यमें कहा है कि जैसे देवताओंने यज्ञ किया, वैसे ही योगी भी अमृतस्वरूप उद्दीप्त इस आत्मपुरुषके द्वारा ही आत्मयज्ञ सम्पादन करते हैं। इसमें वसन्त सात्त्विकगुण, ग्रीष्म राजस और शरद् तामस। योगी इन्हीं तीन गुणोंका आत्मयज्ञमें हवन करते हैं।

किसी-किसी मतमें सीमित अहं और इदंको असीममें समर्पणकी यह एक प्रक्रिया है। योगियोंकी रीतिसे कार्यको कारणमें लीन करनेकी पद्धति।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अजयन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ 7॥

'वही द्वितीय पुरुष यज्ञका साधन हुआ। मानस यज्ञमें उसीको पशु-भावनासे यूपमें बाँधकर प्रोक्षण किया गया; क्योंकि सारी सृष्टिके पूर्व वही पुरुष रूपसे उत्पन्न हुआ था। इसी पुरुषके द्वारा देवताओंने मानसयाग

किया। वे देवता कौन थे? वे सृष्टि-साधन योग्य प्रजापति आदि साध्य देवता एवं तदनुकूल मन्त्रद्रष्टा ऋषि। अभिप्राय यह है कि उसी पुरुषसे सभीने यज्ञ किया।'

वेङ्कटनाथने पुरुषको अश्व कहा है और ऋषियोंकी संख्या सात बतलायी है।

शुक्ल यजुर्वेदसंहितामें यह नवीं कण्डिकाके रूपमें है। उवट भाष्यमें कहा गया है कि जैसे अग्निष्टोम यज्ञमें वर्हिसे प्रोक्षण करनेपर पुरुष उत्पन्न होता है, वैसे ही आत्मयज्ञमें प्राणायामके द्वारा दीप्त होकर पुरुष उत्पन्न होता है, दिव्य ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इसीसे इन्द्रादि देवता, साध्य और ऋषि यज्ञ करते हैं। कपिल आदि ऋषि भी। प्रणवाधिष्ठित पुरुषसे ही यज्ञ सम्पन्न होता है।

महीधरने 'प्रौक्षन्' का अर्थ किया है कि प्रोक्षणादि संस्कारोंसे संस्कृत किया गया। इनके मतमें भी सायणके समान ही यह मानस-याग है।

एक व्याख्याकारने इस प्रसङ्गमें शावल्य ब्राह्मण उद्धृत किया है। उसका भावार्थ यह है—"पाद-नारायणसे मूल प्रकृति प्रकट हुई। पाद-नारायणके शासनसे उसने महान्, अहंकार आदि सूक्ष्म पदार्थोंको जन्म दिया। सूक्ष्मसृष्टि सम्पन्न हो जानेपर पाद-नारायणने स्थूल सृष्टिके लिए चतुर्मुख पुरुषका अभिध्यान किया। उस ध्यानसे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। वे जन्मसे ही भूमिमें सर्वातिशायी थे। सब कार्य करनेमें समर्थ वे वृद्धकाय ब्रह्मा मौन रहे। उनसे अनिरुद्ध नारायणने पूछा—'ब्रह्मन्! तुम मौन क्यों हो?' ब्रह्माने कहा—'अज्ञानके कारण।'

अनिरुद्ध नारायणने कहा—'ब्रह्मन! तुम अपनी इन्द्रियोंको ही देवता एवं ऋत्विज बनाकर और अपने शरीरको हवि मानकर अग्निके रूपमें मेरा ध्यान करो तथा मुझ अग्निमें आत्मनिवेदन कर दो। मेरे अंगके स्पर्शमात्र से तुम्हारा शरीर बढ़ जायगा और तुम जगत्‌के कोश बन जाओगे। फिर तुम प्राणियोंका निर्माण करके स्रष्टा हो जाओगे। इस सृष्टिको जो जानता है वह इसी जन्ममें मुक्त हो जाता है।'

इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जाता है कि आदि पुरुष उत्पन्न द्वितीय पुरुष क्या है और उसका यह मानस-यज्ञ क्या है? यह यज्ञ पश्वादि-रूप सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्वका ही है, अतः मानस है और आत्मसमर्पण-रूप है।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥ ४॥

'इस यज्ञमें सर्वात्मक पुरुषका हवन किया जाता है। इस मानस यज्ञसे दधिमिश्रित आज्य-सम्पादन किया गया अर्थात् सभी भोग्य पदार्थोंका निर्माण हुआ। इसी यज्ञसे वायुदेवताके आरण्य पशुओंका निर्माण हुआ। जो ग्राम्य पशु हैं, उनका भी।'

सर्वात्मक पुरुषका हवन जिस यज्ञमें किया जाता है उसको कहते हैं—सर्वहुत्। **सर्वहुतः** यह 'यज्ञात्' का विशेषण पञ्चमी एकवचन है।

वेङ्कटनाथने **सर्वहुतः** शब्दका अर्थ किया—आश्वमेधिक अश्व। उसीसे पृषदाज्य बना। इसके बाद देवताओंने पशुओंका निर्माण किया।

शुक्लयजुर्वेद संहितामें यह छठीं कण्डिका है। उवटका कहना है कि अग्निष्टोम यज्ञकी प्रक्रियाके अनुसार ही इस आत्म-यज्ञकी भी प्रक्रिया है। इस सम्पूर्ण आत्म-यज्ञसे उत्पन्न पृषदाज्यके द्वारा योगी सम्पूर्ण प्राणियोंको हथेलीकी भाँति देखते हैं। उनके ज्ञान-तेजसे कुछ भी छिपा नहीं रहता।

महीधरका मत सायण-सदृश है। जिसका भाव मूल-मन्त्रके अनुवादमें ही दे दिया गया है।

द्वितीय पुरुषने आदि पुरुषको सब कुछ हवन कर दिया अर्थात् चतुर्मुख ब्रह्माने पुरुषोत्तम भगवान्को सब कुछ समर्पण कर दिया।

जीवात्माने अपने आत्माको ही अमूल्य रत्न कौस्तुभके रूपमें भगवान्के प्रति समर्पित कर दिया।

कार्यरूप उपाधि कारणरूप उपाधिमें लीन हो गयी और द्वितीय पुरुष आदि पुरुषसे एक हो गया।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ९॥

'पूर्वोक्त सर्वहवनात्मक यज्ञसे ऋचाएँ और साम उत्पन्न हुए। उस यज्ञसे ही गायत्री आदि छन्दोंका जन्म हुआ। उसी यज्ञसे यजुष्की भी उत्पत्ति हुई।'

वेङ्कटनाथने अपनी व्याख्यामें कहा है कि ऋक्, साम और यजुष् इन तीनोंकी उत्पत्ति उस यज्ञसे हुई। छन्दका अर्थ उन्होंने तीनोंका अधिष्ठान किया है, अर्थात् वेद छन्दोंमें ही होते हैं।

शुक्ल यजुर्वेदसंहितामें यह सातवीं कण्डिका है। उवटका कहना है कि देवता यज्ञसे वेदोंको प्रकट करते हैं। जब आत्म-यज्ञ प्रणवसे दीप्त होता है तब छन्द स्वयं ही ज्ञानसे अधिष्ठित हो जाते हैं। जो इस सबको परमात्मामें जान लेता है उसको सब वाङ्मय ज्ञानस्वरूप हो जाता है।

महीधरका व्याख्यान है कि इन वेदों और छन्दोंके बिना यज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए इस प्रसंगमें उनका वर्णन है।

द्वितीय पुरुष ही यहाँ यज्ञ है। उससे ऋग्वेदकी इक्कीस, सामवेदकी सहस्र, यजुर्वेदकी एक सौ नौ शाखाएँ तथा गायत्री आदि छन्द प्रकट हुए। यहाँ उत्पत्तिका अर्थ भिन्न-भिन्न सर्गमें प्रथम उच्चारणका विषय होना है। यद्यपि वेद ब्रह्मासे भी उत्पन्न नहीं होते तथापि यहाँ 'उत्पत्ति' शब्दका अर्थ प्रथमोच्चारण ही विवक्षित है, इसलिए कोई दोष नहीं है। यदि द्वितीय पुरुषका उच्चारण न मानकर प्रथम पुरुषसे ही वेदोंकी उत्पत्ति माने तो, वहाँ भी सृष्टिके अनादि प्रवाहमें लीन वेदोंका प्रकाशकत्व ही परमेश्वरमें है, कर्तृत्व नहीं।

वेद तैत्तिरीय उपनिषद् अनुसार मनोमय कोशमें निवास करते हैं। अतएव सुषुप्तिकालीन आनन्दमय कोशमें वे लीन हो जाते हैं। देखिये, **तस्य यजुरेव शिरः** और सुषुप्तिका वर्णन **तत्र वेदा अवेदा भवन्ति**, यही कारण है कि तत्त्वज्ञ पुरुष जब अविद्यावरणसे निर्मुक्त होता है और अपने प्रत्यक् चैतन्याभिन्न-रूपमें स्थित होता है, तब वह पौरुषेयापौरुषेय सर्वविध वाक्-प्रवाह और तत्कृत विधि-निषेधसे परे हो जाता है।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥ 10॥

'उस पूर्वोक्त यज्ञसे यज्ञोपयोगी अश्वोंका जन्म हुआ। जिनके दोनों ओर दाँत होते हैं, उनका भी जन्म हुआ। उसीसे गायोंका भी जन्म हुआ और उसीसे बकरी-भेड़ें भी पैदा हुईं।'

शुक्ल यजुर्वेदसंहितामें यह आठवीं कण्डिका है। उवटने लिखा है कि पशुओंके बिना यज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता। महीधरका भी यही मत है।

विष्णुपुराणमें पूर्व मुखसे ऋग्वेद एवं गायत्री आदि छन्दोंकी, दक्षिण मुखसे यजुष् एवं त्रिष्टुप् आदि छन्दोंकी, पश्चिम मुखसे सामवेद एवं जगती आदि छन्दोंकी और उत्तर मुखसे अथर्ववेद एवं अनुष्टुप आदि छन्दोंकी सृष्टिका वर्णन है (देखिये, प्रथम ंशका अध्याय 5, श्लोक 53-56)। इसीके साथ-साथ यह वर्णन है कि उस द्वितीय पुरुषके वक्षःस्थलसे भेड़ें, मुखसे बकरियाँ, उदरसे गौएँ, चरणोंसे घोड़े, हाथी, गधे, नीलगौएँ, हरिन आदि उत्पन्न हुए।

इसका अभिप्राय यह है कि समग्र सृष्टि भगवान्से ही प्रकट हुई है, भगवान्में ही स्थित है। यह-वह, तू-मैं सब परमात्माका ही स्वरूप है। इन सबको परमात्मामें लीन करके मनसे अभेदका चिन्तन करना चाहिए। कार्य-कारणका अभेद-चिन्तन ही वस्तुतः यज्ञ है। इससे राग-द्वेषादिकी निवृत्ति तो होती ही है, अपने 'मैं' की भी बलिवत् बलि चढ़ जाती है। यह आराधनाकी पराकाष्ठा है। योगकी सर्वोच्च स्थिति है और महावाक्योंके द्वारा प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका बोध हो जानेपर समग्र दृश्य-प्रपंच अपने स्वरूपमें बाधित अपना स्वरूप ही है। इस यज्ञका परम तात्पर्य अनात्माके बाधमें ही है।

ॐ यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥ 11॥

'जब द्वितीय पुरुष ब्रह्माकी ही यज्ञ-पशुके रूपमें कल्पना की

गयी, तब उसमें किस-किस रूपसे, किस-किस स्थानसे, किस-किस प्रकार-विशेषसे उसके अंग उपांगोंकी भावना की गयी? उसका मुख क्या बना? उसके बाहु क्या बने? तथा उसके ऊरू और पाद क्या कहे गये?'

शुक्लयजुर्वेद-संहितामें यह दसवीं कण्डिका है, किञ्चित् पाठ-भेदके साथ। इस मन्त्रमें यज्ञके अनुष्ठाता ब्राह्मणादिकी कल्पना सूचित की गयी है। प्रजापतिके प्राणरूप देवताओंने इनको अभिव्यक्त किया। ब्रह्मवादी परस्पर प्रश्नोत्तरके रूपमें इन रहस्योंको प्रकट करते हैं; इसलिए जिज्ञासा-समाधानके रूपमें इस विषयका वर्णन है। विधान, विकल्पना, कथन—यह सब पर्यायवाची शब्द हैं। **एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति, एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति,** इन श्रुतियोंसे मिलान करनेपर प्रवचन, कल्पना और विधान एकसे अर्थमें ही प्रयुक्त ज्ञात होते हैं।

विचार करके देखें तो सिद्ध होता है इन प्रश्नोंमें विराट् पुरुषके चार प्रकारसे व्याख्यान अभिप्रेत हैं। ये ब्राह्मणादि चारों नाम एक विराट्के ही द्योतक हैं। विराट्के साक्षात् कोई मुख नहीं होता। जैसे पुरुषके शरीमें मुख ज्ञान-प्रधान होता है और वह स्वसुख-निरपेक्ष दर्शन, श्रवण, स्पर्श, आघ्राण, आस्वादन, प्रवचन, पथ-निर्देश, नेतृत्व आदि करता है और सर्वाङ्गका पोषण करता है, ठीक वैसे ही गुणोंसे युक्त विराट्की शक्तियोंको ब्राह्मण कहा गया है। शौर्य, वीर्य, बल, पराक्रम, संरक्षण, ऐश्वर्य, दान आदि शक्तियोंको क्षत्रिय, अर्थप्रधान शक्तियोंको वैश्य और परिचर्यादि-क्रियाप्रधान शक्तियोंको शूद्र कहा गया है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ 12॥

'इस पुरुषका मुख ही ब्राह्मणके रूपमें कल्पित है। बाहु राजन्य माना गया है। ऊरू वैश्य है और चरण शूद्र हैं।'

यजुः संहितामें यह ग्यारहवीं कण्डिका है। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व मन्त्रमें प्रश्नके रूपमें जिस 'विधान' और 'विकल्पना' शब्दोंका प्रयोग

किया गया है, उसी अर्थमें उत्तर मन्त्रमें, 'था', 'किया गया' और 'पैदा हुआ', 'आसीत्', 'कृतः', 'अजायत' हैं। तैत्तिरीय संहितामें इसके लिए 'निरमिमीत' इस क्रियापदका प्रयोग है।

उवट भाष्यमें प्रश्न मन्त्रमें ही यह कह दिया है कि योगीजन आत्मयज्ञमें ज्ञानपुरुषकी इसी प्रकार विकल्पना करते हैं। उत्तर मन्त्रमें उन्होंने कहा है कि पुरुषमें यही शिरः प्रभृति अवयव हैं, दूसरे नहीं।

एक टीकाकारने मुखके सदृश सुखनिरपेक्ष ज्ञान, प्रवचन, नेतृत्व आदि गुणधर्म धारण करनेवाले ब्राह्मण 'वह् प्रापणे' धातुसे निष्पन्न बाहुके सदृश धारण आदि शक्तियोंसे युक्त क्षत्रिय, ऊर्ण धातुसे निष्पन्न ऊरू शब्दसे आच्छादन, पालन आदि शक्तियोंसे युक्त वैश्य एवं गत्यर्थक 'पद्' से निष्पन्न पद्से गति, प्राप्ति आदि शक्तियोंसे युक्त शूद्र होते हैं, ऐसा कहा है। इस मन्त्रमें प्रयुक्त यज्ञार्थ-कल्पना और वर्ण-विभागकी उत्पत्ति दोनोंके वाचक क्रियापद शाश्वत वर्णविभागके ही वाचक हैं।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥ 13॥

'मनसे चन्द्रमा,चक्षुसे सूर्य, मुखसे इन्द्र तथा अग्नि और प्राणसे वायुकी कल्पना की गयी।'

यजुर्वेदमें इस मन्त्रका उत्तरार्ध इस प्रकार है—**श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत**। वहाँकी संख्या बारहवीं है।

सायणने कहा है कि यज्ञकी सारी सामग्री उसी पुरुषसे बनी, जैसे दधि, घृत आदि पदार्थ, गाय-घोड़ा आदि पशु, ऋक्, साम आदि वेद, ब्राह्मणादि अधिकारी मनुष्य। यह पहले कह चुके हैं। इस मन्त्रमें देवता भी उसीसे बने—यह कहा है।

चन्द्रमा क्यों? 'चायन् द्रमति' देखता हुआ चलता है। चायन्का 'चन्' हो गया है। 'चन्द्रो माता' चन्द्र सबका निर्माता है। चन्द्रमाका चन्द्र-सा ही मान है। प्रतिदिन कलावृद्धि होती है। सोमलताकी भी चन्द्रमाके समान ही ह्रास-वृद्धि है। 'चन्दति' से भी चन्द्रमा बनता है,

उसका अर्थ है—कमनीय। 'चन्दन'से भी चन्द्रमा बनता है, अर्थ है, कान्त, प्यारा। 'चारु द्रमति' इसकी गति सुन्दर है। 'चिरं द्रमति' धीरे-धीरे चलता है। 'चम्यमानो द्रमति' देवताओंके द्वारा पान किया हुआ चलता है। रुचि शब्द ही वर्णविपर्ययसे चारु है। चन्द्रमा मनका देवता है। जैसे सूर्यकी सहायतासे नेत्र देखते हैं, वैसे चन्द्रमाकी सहायतासे मनमें विशिष्ट भावोंका उदय होता है।

इन मन्त्रोंमें 'अजायत' आदि क्रियापद देखकर जो कार्य-कारण भाव प्रतीत होता है, वह लौकिक दृष्टिसे ही है, विवक्षित अर्थ नहीं है। उव्वट भाष्यमें कहा गया है कि यह एक कल्पना है। मन ही चन्द्रमा है। नेत्र ही सूर्य हैं। जो प्राण है, वही जीव है और वही वायु है। मुख ही अग्नि है। मानस यज्ञमें कार्य-कारणका भेद भी मानस ही होता है। एक ही सत्ताके विविध स्फुरण यदि परस्पर-समानार्थक अनेक नामोंके द्वारा व्यक्त किये जायँ और अनेक नाम समानार्थक हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जैसे वायु इन्द्र है, सूर्य इन्द्र है इत्यादि।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥ 14॥

'नाभिसे अन्तरिक्षलोक, सिरसे द्युलोक, चरणोंसे भूमि और श्रोत्रसे दिशाएँ—इस प्रकार लोकोंकी कल्पना की गयी।'

यह शुक्लयजुर्वेदका तेरहवाँ मन्त्र है। पद-पाठ ऋग्वेदके समान ही है। उपास्य देवताओंके वर्णनके अनन्तर इस मन्त्रमें उपासकोंके भोगस्थानरूप अन्तरिक्षादि लोकोंकी सृष्टिका प्रसंग है। सूर्य आदिकोंके विचरणका स्थान मध्यदेश अन्तरिक्ष है। द्युलोकका अभिप्राय है ऊपरके सब। पृथिवी माने उसके साथ नीचेके सब। दिशाओंका अर्थ है—कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका विस्तार सभी लोक। यहाँ भी नाभि अन्तरिक्ष है, सिर द्युलोक है, इत्यादि कल्पना कर लेनी चाहिए।

'नाभि' शब्दका अर्थ होता है—सबको बाँधनेवाला, 'नह्' धातु। जैसे रथचक्रकी नाभि अरोंको बाँधकर रखती है। इसमें रहते हैं—प्राण,

अन्न, रेतस्। अन्तरिक्षमें वायु, वृष्टिजल। 'अन्तरिक्ष शब्दकी व्युत्पत्तिके लिए अन्तरा-क्षि, अन्तर्-यक्ष, अन्तरा-क्षान्त, अन्तर्-क्षय, अन्तर्-ईक्ष और अन्तर्-ख अनुसन्धान करने योग्य हैं।'

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥ 15॥

'जब देवताओंने अपने मानस-यज्ञका विस्तार करते हुए वैराज पुरुषको पशुके रूपमें कल्पित किया, तब इस यज्ञकी सात परिधियाँ हुईं और इक्कीस समिधाएँ।'

आहवनीय आदि पदार्थोंके तीन पार्श्वोंमें प्रथम मेखलापर जिनका स्थापन किया जाता है, उन मेखला-जितने लम्बे कोष्ठोंको परिधि कहते हैं। उत्तर वेदीकी तीन आहवनीयकी तीन और आदित्य एक—इस प्रकार सात परिधियाँ होती हैं। मानस-यज्ञमें इस प्रकारकी परिधियोंके ध्यानका उपयोग नहीं है; जैसे पहले कहे हुए वसन्त आदिके आज्यत्वका। यहाँ परिधि हैं—महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ। इक्कीस समिधाएँ हैं—दस इन्द्रियाँ, मन, पंचतन्मात्राएँ और पंचमहाभूत। देवता हैं—इन्द्रिय और साध्य। ये वैराज पुरुष प्रजापतिके अवयव ही हैं। जब इन्होंने इन्हींकी पशु-रूपमें कल्पना करके अपने हृदयरूप खम्भेमें अध्यवसायरूप रज्जुसे बाँधा, तब यह यज्ञ सम्पन्न हुआ। कोई-कोई कहते हैं कि भगवदाज्ञा रज्जु है, मूल प्रकृति खम्भा है, वैराजपुरुष चतुर्मुख पशु है और उसका परमात्मासे अभेद चिन्तन ही मानस-यज्ञ है।

सायणाचार्यने गायत्री आदि सात छन्दोंको परिधि माना है। वाग्ब्रह्मसे सृष्टि-विस्तारके प्रसंगमें यह अर्थ संगत है। याज्ञिक अर्थमें आहवनीयकी तीन, उत्तर वेदिकाकी तीन और आदित्य—यह व्याख्यान उचित है। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने ब्रह्माण्डके सात आवरणोंको परिधि माना है। वे हैं—(1) समुद्र, (2) त्रसरेणु सहित वायु, (3) मेघ-मण्डलस्थ वायु, (4) वृष्टिजल, (5) उसके ऊपरका वायु, (6) अत्यन्त सूक्ष्म धनंजय वायु, (7) सर्वत्र व्याप्त सूत्रात्मा।

सर्वरूपमें सर्वकारण-कारण परमात्माका चिन्तन ही इस मन्त्रका सार है।

उव्वट भाष्यमें कहा गया है कि आत्मत्याग अथवा पुरुषमेधके प्रसंगमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन और बुद्धि—ये साथ परिधियाँ हैं। पृथिवी आदि पाँच महाभूत, पंचतन्मात्रा, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन—ये इक्कीस समिधाएँ हैं। देदीप्यमान देवगण एवं योगी ज्ञानके द्वारा समाधियज्ञका विस्तार करते हैं। इस प्रकार वे द्वैतको अर्थात् द्वितीय पुरुषको प्रथम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तममें लीन कर देते हैं।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ 16 ॥

'प्रजापतिके प्राणरूप विद्वान् देवताओंने अपने मानस संकल्परूप यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप पुरुषोत्तमका यजन (आराधन, याग) किया। वही धर्म है सर्वश्रेष्ठ एवं सनातन; क्योंकि सम्पूर्ण विकारोंको धारण करता है। वे धर्मात्मा भगवान्के माहात्म्य, वैभव आदिसे सम्पन्न होकर परमानन्द-लोकमें समा गये। वहीं प्राचीन उपासक देवता विराजमान रहते हैं।'

उव्वट भाष्यमें 'देव' शब्दका अर्थ 'दीप्तिमान् योगी' है। यज्ञसमाधि। ज्ञानस्वरूप नारायणका यजन। यही प्रथम धर्म है। क=सुख। अक=दुःख। न+अ+क=दुःखलेशसे रहित परमपद। सनकादिकोंका निवासस्थान। गुणातीत योगी परमपुरुषमें प्रवेश कर जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं।

आत्मसमर्पण ही मानसयज्ञ है। वेदोंमें ऐसे मन्त्र हैं—'मैं मुझे परमात्मामें हवन करता हूँ,' 'मैं अपने आपको अमृतके निधान सूर्यज्योतिमें अर्पित करता हूँ' इत्यादि। भगवान् पुरुषोत्तम ही वैदिक यज्ञ-विष्णु हैं। यह समर्पण ही परमधर्म है। इस धर्मानुष्ठानसे उपासक अपने अधिकारानुसार परापर मोक्षको प्राप्त करते हैं। परमात्मानुभूति ही परमपद है—**तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।**

●

उत्तरनारायणानुवाक

[यजुर्वेद अध्याय 31, कण्डिका 17-22]

ॐअद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥ 17॥

'पूर्वकल्पमें जल, पृथिवी अर्थात् पञ्चभूतोंसे रस पुष्ट हुआ था और विश्वकर्मा अर्थात् कालकी पूर्णतृप्तिसे सञ्चित हुआ था, उससे एक विशिष्ट रससे भरपूर फलकी उत्पत्ति हुई। वह फल जो भविष्यमें उत्तम जन्म देता है। यह त्वष्टा अर्थात् सूर्यदेवता उसी रूपको धारण करके प्रतिदिन प्रातःकाल उदित होता है। एक मनुष्य पुरुषसूक्तमें कथित आराधना करके आजानदेवता अर्थात् जन्मसिद्ध सृष्टिका प्रथम देवता बन गया। पुरुषोत्तम-आराधनाका यह प्रत्यक्ष फल है।'

देवता दो प्रकारके होते हैं—कर्मदेवता और आजानदेवता। वृहदारण्यक उपनिषद्में उल्लिखित है कि कर्मदेवताओंसे शतगुणित आनन्द आजानदेवताओंको होता है। जो अपने उत्कृष्ट कर्मोंसे देवता हो जाते हैं, वे कर्मदेवता। जो सृष्टिके आदिमें ही देवताके रूपसे उत्पन्न होते हैं, वे आजान देवता। सूर्य आजान देवता हैं: उन्हें पूर्वकल्पके पुरुषोत्तम-आराधनासे ही यह पद प्राप्त हुआ है।

मूलमन्त्रमें 'अप्' और 'पृथिवी' इन दो तत्त्वोंका उल्लेख है। टीकाकार इन्हें पञ्चभूतोंका उपलक्षण मानते हैं। कालका ही नाम है—विश्वकर्मा; क्योंकि विश्व ही उसका कर्म है। पञ्चभूत और काल—ये सामान्यरूपसे सबके कारण हैं। जब मनुष्य पुरुषोत्तमका आराधन करता है तब उसके लिंग शरीरमें काल और पञ्चभूत सन्तुष्ट होकर प्रकट होते हैं। उनकी सन्तुष्टिसे एक ऐसा विशिष्ट रस प्रकट होता है जो उत्तम जन्म देता है। वस्तुतः वह पुरुषोत्तमकी आराधनाका ही फल है।

उस रसका जो फलात्मक रूप है, वह सूर्य है। पुरुषोत्तमका आराधक उसी सूर्यरूप फलसे तादात्म्यापन्न होकर प्रकट होता है। वह पालन करता है, ज्ञान देता है, आन्तर एवं बाह्य शत्रुओंका विनाश करता है। अतः मनुष्यको पुरुषसूक्तमें वर्णित रीतिसे पुरुषोत्तमकी आराधना करनी चाहिए।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ 18॥

'इस सूर्य-मण्डलस्थ महान् पुरुषको मैं जानता हूँ। यह स्वयंप्रकाश है एवं अविद्यातमस्तोमसे सर्वथा अस्पृष्ट। इसीको जानकर जन्म-मृत्युका अतिक्रमण होता है। अपने आपको उससे अभिन्न जानकर ही मुक्ति होती है, दूसरा कोई पथ नहीं है।'

'एतम्' एवं 'तम्' इन दो सर्वनामोंका प्रयोग करते सूचित किया गया है कि अपरोक्ष आत्मा एवं परोक्ष परमात्मा पृथक्-पृथक् नहीं, एक ही है। यह पुरुष, चाहे 'यह' कहा जाय या 'वह' पूर्ण ही है। 'पुरुष' शब्दका अर्थ ही है—पूर्ण। 'महान्' अर्थात् देश, काल, वस्तुके अवच्छेद्य-अवच्छेदक भावसे रहित, त्रिविध परिच्छेद-शून्य। 'आदित्यवर्ण' का अर्थ है—स्वयं प्रकाश। दूसरी उपमा न होनेके कारण आदित्यमण्ड़लस्थ पुरुषको आदित्यकी ही उपमा दी गयी है। 'तमसः परस्तात्' का अर्थ है—अविद्यासे परे। 'उसीको जानकर' कहनेका अभिप्राय यह है कि किसी दूसरेके ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती। 'एव' पदको 'विदित्वा' के साथ जोड़ दीजिये—'जानकर ही' अर्थात् ज्ञानके अतिरिक्त मुक्तिका दूसरा साधन नहीं है। 'मृत्युमत्येति' के अनन्तर 'एव' की स्थापना कीजिये। अभिप्राय यह कि उसके ज्ञानसे जन्म-मरणसे मुक्ति मिलती ही है।

इसका फलितार्थ यह है कि आत्मा और परमात्माकी एकताका ज्ञान ही मुक्तिका हेतु है। ज्ञानसे जो कुछ प्राप्त होता है वह पहलेसे ही प्राप्त रहता है अतः एकता और मुक्ति पूर्वसिद्ध हैं। अज्ञानके अतिरिक्त बन्धनका और कोई हेतु नहीं है। ज्ञानसे अज्ञान ही मिटता है। बन्धन वास्तविक होता तो अज्ञानके मिटनेसे न मिटता। मुक्ति वस्तुतः अप्राप्त होती तो केवल

ज्ञानसे न मिलती। अतः ब्रह्मात्मैक्य और मुक्ति स्वतः सिद्ध ही हैं। अविद्या-निवृत्तिमात्र ही अपेक्षित है।

निष्कर्ष स्पष्ट है कि ब्रह्मात्मैक्य अथवा मुक्ति न कर्मके द्वारा उत्पाद्य है, न उपासनाके द्वारा भाव्य। साधन-साध्यके साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यही बात 'नान्यः पन्थाः'के द्वारा कही गयी है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्तुर्भुवनानि विश्वा॥ 19॥

'वह सूर्यमण्डलस्थ पुरुष ही अपने एक अंशसे प्रजापति है। सर्वात्मा प्रजापति हृदयाकाशमें स्थिर रहकर गर्भमें प्रवेश करता है। वह अनुत्पन्न एवं नित्य होनेपर भी मायासे कार्यकारणरूप बहुविध प्रपञ्चके रूपमें प्रकट होता है। धीर-वीर, ब्रह्मविद् पुरुष उस प्रजापतिके स्वरूपका दर्शन करते हैं। वे अनुभव करते हैं कि सम्पूर्ण भुवन उसी कारणात्मा ब्रह्ममें स्थित है और उससे भिन्न नहीं है।'

उव्वटने लिखा है कि यहाँ 'परिपश्यन्ति'का अर्थ है—सर्वत्यागके द्वारा कार्य-कारणरूप प्रपञ्चका परिहार कर देते हैं।

महीधरका मत है कि यह प्रपञ्च उसका मायाकृत विवर्त है। 'परिपश्यन्ति' का अर्थ है—'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूपमें अनुभव। आत्मा, परमात्मा एक और विश्व उसका स्वरूप ही है।

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ 20॥

'जो सभी देवताओंको अपने तेजसे तेजस्वी बनाता है, जो देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ इन्द्र अथवा अग्निके रूपमें स्थित है, जो सब देवताओंसे पहले ब्रह्माके रूपमें प्रकट हुआ; उस ब्राह्मी दीप्ति (ब्रह्मप्रकाश) आदित्य प्रजापतिको हमारा नमस्कार है।'

उव्वटका कहना है कि योगी लोग उसे नमस्कार करते हैं। 'नमस्कार' का अर्थ है—ध्यान। 'रुच'का अर्थ है—तेज। 'ब्राह्मि' है, ब्रह्मपुरुषसे उत्पन्न।

महीधरने 'रुच' का अर्थ किया है—दीप्यमान। ब्रह्मसे अपत्य

अर्थमें 'ब्राह्मि' शब्द बना है। अर्थ है—ब्रह्मका अवयव। प्रत्येक दशामें अभिप्राय यही है—ब्राह्मी दीप्ति अथवा ब्राह्म ज्योति।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे॥ 21॥

'देवताओंने सृष्टिके पूर्व इस ब्रह्मज्योति आदित्यको बनाते समय कहा था कि जो ब्राह्मण इस ब्रह्मको जानेगा, देवता उसके वशमें होंगे।'

उव्वट—देवता=योगी। ब्राह्म=ब्रह्मासे उत्पन्न। रुच=देदीप्यमान आदित्य। 'देवता उसके वशमें होंगे', इसका अर्थ है—वह सनकादिका स्थान प्राप्त करेगा।

महीधर—देवता अर्थात् दीप्यमान प्राण। ब्राह्मरुच जगमगाते हुए सूर्य। सूर्य-निर्माणके बाद उन्होंने कहा—'हे आदित्य! जो तुम्हारी उत्पत्ति-प्रक्रियाको जानेगा, उस ब्राह्मणके वशमें सब देवता होंगे अर्थात् वह जगत्-पूज्य हो जायेगा।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण॥ 22॥

'हे पुरुषोत्तम! श्री और लक्ष्मी तुम्हारी पत्नी हैं, दिन और रात्रि तुम्हारे पार्श्व भाग हैं। आकाशमें छिटके हुए तारे तुम्हारे रूपकी रश्मियाँ हैं। अश्विन अर्थात् द्युलोक और पृथिवीलोक तुम्हारे मुखके विकास हैं। हम जानते हैं कि तुम हमें चाहते हो। इसलिए अवश्य हमारा अभ्युदय और निःश्रेयस चाहो। हमारा लोक, परलोकऔर सर्वलोक तुम श्रेष्ठ बना दो। सर्वलोकमें मेरा आत्मभाव हो जाय।'

महीधरने 'श्री'का अर्थ सम्पदा किया है। इसीसे मनुष्य आश्रयणीय होता है। 'लक्ष्मी' का अर्थ सौन्दर्य किया है, इससे लोगोंकी दृष्टि आकृष्ट होती है। तारे प्रभुके तेजसे ही भासमान हैं। तेजका गोलक सूर्य है और जलके गोलक नक्षत्र हैं—ऐसा ज्योतिश-शास्त्रमें कहा है। 'अश्विन' का अर्थ है—द्यावा-पृथिवी, वह सर्वव्यापक है। 'मैं सर्वलोकात्मक हो जाऊँ'—ऐसा संकल्प आप कीजिए—इसका अभिप्राय है—'मैं मुक्त हो जाऊँ'; क्योंकि ब्रह्म ही सर्वात्मक है। ●

: 7 :

ज्ञान-सूक्त

[ऋग्वेद मण्डल 10 अ0 6 सू0 71]

वृहस्पते प्रथमं वाचो अग्र यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ 1॥

वृहस्पति इस ग्यारह मन्त्रोंके सूक्तमें परम–पुरुषार्थके साधन ज्ञानकी स्तुति करते हैं और अपने आपको ही सम्बोधन करते हैं।

'हे वृहस्पते! हे अन्तरात्मन्! देखो इन बालकोंमें भी ज्ञान है। जन्मके बाद ही दूसरे शब्दोंमें उच्चारणसे पहले ये वस्तुओंका नाम रख लेते हैं और उसीके आधारपर प्रेरणा देते हैं। कभी 'ता ता' कभी 'मा मा' बोलते हैं, यह वाणीका अग्र इनके अन्दर विद्यमान है। इस समय भी इनका वह प्रशस्यतम ज्ञान—वेदार्थ–ज्ञान जिसमें किसी प्रकारका पाप नहीं है। इनकी हृदयगुहामें गुप्तरूपसे रह रहा है। वह प्रेमसे प्रकट होता है । वेदाभ्यासके समय सरस्वती उसी ज्ञानको इनमें प्रकाशित करती है।'

अरिप्र=पापरहित।

प्रेणा=प्रेम्णा–प्रेमसहित (मकारका लोप हो गया है।)

आविः=प्रकाश।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥ 2॥

'जैसे सूपसे सत्तूको स्वच्छ करके प्रयोग करते हैं वैसे ही धीर पुरुष अपनी प्रज्ञासे प्रकृति–प्रत्ययकी शुद्धि करके वाणीका प्रयोग करते हैं। इसी प्रकृतिप्रत्यय–परिशुद्ध वाणीके प्रयोगसे समान ज्ञानवाले पुरुष एक दूसरेके

ज्ञानको जानते हैं। इसलिए इनकी वाणीमें कल्याणी लक्ष्मीका निवास स्थान है।'

तितउ=परिपवन-जिसमें भुने हुए जौ फैलाकर पछोरे जाते हैं।

सक्तु=जौ-चना, जौ-मटर,जौ-गेहूँ-भूनकर एक प्रकारका खाद्य पदार्थ सम्पन्न होता है।

सखा=जिनका आख्यान अर्थात् शास्त्रादि विषयका ज्ञान-निरूपण समान रीतिसे हो।

यज्ञन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पृरुत्रा तां सप्त रेभा अभि. सं नवन्ते॥ 3॥

'अर्थज्ञ धीरपुरुष यज्ञके द्वारा वाक् तत्त्वके पदवीय अर्थात् पदाधिगम्य पथको प्राप्त करते हैं। उन्हें उस वाक्तत्त्वकी अतीन्द्रियार्थदर्शी ऋषियोंमें प्राप्ति होती है। वहींसे उस वाक्तत्त्वका आकलन करके भिन्न-भिन्न देशोंमें और भाषाओंमें वे उसका विस्तार करते हैं। सम्पूर्ण मनुष्यजातिमें अध्ययन-अध्यापन द्वारा प्रचार करते हैं। शब्दायमान पक्षी गायत्री आदि सात छन्द उसी वाक्तत्त्वसे संगत होते हैं।'

पदवीय=पदगम्य अथवा पदाधिगम्य।

रेभ=शब्दायमान पक्षी।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्त्रे जायेव पत्य उशतो सुवासाः॥ 4॥

'बहुत-से एक समान शरीरवाले एवं समानरूपसे अध्ययन करनेवाले लोगोंमें भी कोई-कोई व्यक्ति मनसे बहुत पर्यालोचना करनेपर भी वाक्तत्त्वका दर्शन नहीं कर पाता क्योंकि वाक्तत्त्वके दर्शनका फल अर्थविज्ञान उनमें नहीं देखा जाता। इसी प्रकार सुननेवालोंमें भी कोई-कोई बार-बार सुनकर भी इस वाक्तत्त्वका श्रवण नहीं कर पाते क्योंकि वस्तुतः जिन्हें वाक्का अर्थज्ञान होता है, उसीने श्रवण किया है। श्रवणके पूर्व व पश्चात् एक समान रहनेवाला अज्ञानी श्रवणसे वञ्चित ही है। जैसे सुवासिनी कामिनी पत्नी ऋतुकालमें अपने पतिके सम्मुख अपनेको

निरावरण कर देती है; वैसे ही वाणी भी प्रकृति-प्रत्यय, न्यायादि-निर्धारण-समर्थ विद्वान्‌के सम्मुख अपने ज्ञान अर्थात् अर्थको निरावरण प्रकट कर देती है।'

उत—अपि-भी

त्व—एक-कोई-कोई

तन्वम्—वाक्‌का शरीर-ज्ञान-अर्थ 'अर्थो हि वाचो शरीरम्'

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥ 5॥

'विद्वानोंकी संसदमें जहाँ मित्रोंकी परस्पर बातचीतके समान सख्यपूर्ण सत्यकथा होती है उस अर्थज्ञ वक्ताको स्थिरपीत कहते हैं। स्थिरपीतका क्या अभिप्राय है? उसके हृदयमें वेदार्थरूप मधु स्थिर है। उसको वेदार्थकी स्थिर प्राप्ति हो चुकी है। सचमुच उसने वेदके अर्थ—परम तात्पर्यको जान लिया है। जैसे लोक-व्यवहारमें इसने अमुक ग्रन्थको पी लिया है—वैसे ही अर्थज्ञको स्थिरपीत बोलते हैं। वाक्यद्वारा प्रतिपाद्य अर्थके निर्णयमें बड़े-बड़े विद्वान् भी इस अभिज्ञ पुरुषकी समता नहीं कर सकते। यही सबसे बड़ा विद्वान् है। ऐसा भी कह सकते हैं कि जब कभी कहीं वाणीके सारभूत अर्थका निरूपण करना होता है, तब वहाँ इस विद्वान् पुरुषका बहिष्कार नहीं किया जा सकता, इसको सामने रखकर ही वेदार्थका विचार किया जाता है।'

किन्तु जिसे अर्थज्ञान नहीं है वह पुरुष केवल धेनुत्ववर्जित वाङ्मायामें ही भटकता रहता है। धेनुत्ववर्जितका अर्थ है अर्थज्ञानहीन वाणीसे किसी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती। माया शब्दका अर्थ है देवलोक, मनुष्यलोक आदिमें वह वाणीके समान भासनेवाली एक मायाछलना ही है। क्योंकि वास्तविक वाणी तो अर्थज्ञानका दान करती है। इसका कारण है कि वह वाणी तो केवल अफला और अपुष्पा होती है; और वह उसीको श्रवण-धारण करता है। यहाँ वाणीके अर्थको ही पुष्प और फल कहा गया है। जो केवल पाठमात्र ही धारण करके

व्यवहार करता है उसको न यज्ञका ज्ञान होता है, न देवताका। जैसे वन्ध्या किन्तु मोटी-तगड़ी गाय 'यह दस सेर दूध दे सकती है' ऐसी माया उत्पन्न करती हुई चरती है। अथवा जैसे बन्ध्यवृक्ष असमयमें ही पल्लवादि युक्त होकर 'यह फूलेगा-फलेगा' ऐसा भ्रम उत्पन्न करता है। इसी प्रकार अर्थज्ञानहीन पाठी स्वयं मायामें पड़ा हुआ है और दूसरोंको मायामें डालता है।

इस मन्त्रमें अर्थज्ञ वेदपाठीकी प्रशंसा और अर्थज्ञानहीन वेदपाठीकी निन्दा की गयी है।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ 6॥

'वेद अपने प्रति सख्य करनेवाले अर्थात् अध्ययन-अध्यापनके द्वारा उसकी परम्पराको अविच्छिन्न रखनेवाले अर्थज्ञ विद्वानोंका सखा है। अभिप्राय यह कि वह उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंका देनेवाला है। जो अपने ऐसे अकृत्रिम, कृतज्ञ, हितैषी सखाका परित्याग कर देता है; उसका लौकिक और शास्त्रीय वाणीमें भी प्रासव्य कोई भाग नहीं रहता। अर्थात् वह सब पुरुषार्थोंसे वंचित हो जाता है। ऐसा पुरुष वेदव्यतिरिक्त जो कुछ श्रवण करता है वह अलीक तथा व्यर्थ ही श्रवण करता है। क्योंकि श्रद्धारहित होनेके कारण धर्म-पुण्यका अनुष्ठान-पथ नहीं जानता है। इसीलिए उसका यह श्रवण भी निष्फल जाता है।'

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभुवुः।
आदघ्नासः उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे॥ 7॥

'बहुत-से लोग, समानरूपसे नेत्रवाले, कर्णवाले होते हैं। अर्थात् बाह्येन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानमें वे परस्पर समान हैं। एक समान देखते हैं; एक समान सुनते हैं। फिर भी वे मनके द्वारा होनेवाले ज्ञानमें अर्थात् ऊहापोह, धारणा, प्रवचन, मेधा, प्रतिभा आदिमें वे एक दूसरेसे नहीं मिलते। उनमें मध्यम प्रज्ञावाले मुखपर्यन्त जलवाले ह्रदके समान, मन्द

प्रज्ञावाले कक्ष (वाहुमूल) पर्यन्त जलवाले ह्रदके समान एवं महती प्रज्ञावाले 'अक्षोभ्यः' अगाध स्नान करने योग्य ह्रदके समान दिखायी पड़ते हैं।'

ह्रदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु ते॥ 8॥

'सख्यसम्पन्न ब्राह्मण ऐसे-ऐसे विषयोंपर जिनको तत्त्वपुरुषोंने अपनी प्रज्ञा और अन्तरङ्ग अनुभूतिसे निश्चित किया है; जिनमें साधारण पुरुषोंका मन दूरसे भी प्रवेश नहीं कर सकता। विचार एवं मीमांसा करनेके लिए जब एकत्र होते हैं—संगत होते हैं—एक दूसरेका सत्कार करते हैं, तब उस विद्वत्सभामें वे उस मूर्खको छोड़ देते हैं; जो उनके विचारणीय वेद्य प्रवृत्तियोंमें सहयोग नहीं दे सकते। क्योंकि वे श्रुति-मति, बुद्धिके द्वारा ब्रह्मविद्याके सम्बन्धमें ऊहापोह करनेमें विलक्षण हैं, उनके सम्मुख शब्दार्थ-संकट क्षणभरके लिए भी टिक नहीं सकता। उन्हें अविद्वान्‌की क्या आवश्यकता है? वे विशेषरूप सर्वत्र पूज्यमान होकर विचरण करते हैं।'

इमे ये नार्वाङ्ग परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥ 9॥

'ये वेदके अर्थसे अनभिज्ञ लोग न इस अर्वाचीन लोकमें ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणोंके साथ व्यवहार करते हैं न परलोकमें देवताओंके साथ। न वे वेदार्थतत्पर ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण हैं और न तो सोमको अभिषुत करनेवाले ऋत्विज हैं। वस्तुतः वे ज्ञानसे रहित अविद्वान् मनुष्य हैं और केवल लौकिक वाणीका जिससे पापमें प्रवृत्ति होती है आश्रय लेकर हल-कुदालके स्वामी बने खती-बारीके विस्तारमें लगे रहते हैं। अभिप्राय यह है कि मनुष्यको चारों पुरुषार्थ प्राप्त करके अपने-अपने जीवनको सफल बनानेके लिए वेदार्थ-ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए।'

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखाय।
किल्विषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥10॥

'समान ज्ञानवाले सभी सभ्य मनुष्य परस्पर सखा होते हैं; और सभाको नियन्त्रित करके यज्ञमें आनेवाले ऋत्विजोंके सखा यशस्वी सोमको प्राप्त करके आनन्दित होते हैं। यह सोम सबके किल्विषको—नीचा दिखानेवालेको अभिभूत कर देता है; अथवा यज्ञमें गम्भीर प्रवचन करनेकी असमर्थताको दूर कर देता है। इसी सोमके कारण यजमान अन्न और दक्षिणाके द्वारा ऋत्विजोंकी सेवा करता है। यह सोम पात्रमें निहित होकर जीवनी-शक्तिको पूर्णरूपसे बढ़ाता है। यह सोम वस्तुतः हितकारी है।'

ऋचां त्वः पोशमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यशस्य मात्रां वि मितीत उ त्वः॥ 11॥

'प्रथम ऋत्विक होता यज्ञके समय स्वकीय वेदगत ऋचाओंका कर्ममें यथाविधि प्रयोग परिपुष्ट करता है। दूसरा उद्गाता शक्वरी नामकी ऋचाएँ—इन्द्रने वृत्रासुरपर विजय जिनके गानसे प्राप्त की थी। गयत्र संज्ञक स्त्रोत सामका गान करता है। तृतीय ब्रह्मा बीच-बीचमें आ पड़नेवाले प्रायश्चित्त आदि कर्ममें विद्याका उपदेश करता है। चतुर्थ अध्वर्यु यज्ञसम्बन्धी इति कर्त्तव्य, अभिषवग्रहण आदिका निर्माण करता है अर्थात् वेदके अर्थज्ञ यज्ञमें अपने कर्त्तव्यका पालन करते हैं, दूसरेके कर्ममें हस्तक्षेप नहीं करते। यह स्वकर्त्तव्यनिष्ठता ज्ञानके बिना शक्य नहीं है।'

होता आदि सोलह ऋत्विज होते हैं। उनमें चार महर्त्विज होते हैं। होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु। उन्हीं चारोंके कर्त्तव्यका इस मन्त्रमें निर्देश किया गया है।

ऋक्—अर्च्य-प्रशस्यते अनया इति। जिससे देवता, क्रिया एवं साधनकी प्रशंसा की जाय उसको ऋक् कहते हैं।

उपुष्वान—पुषृ-पुष्टौ भिन्न-भिन्न प्रसंगमें आम्नात ऋचाओंको समन्वित करके उनकी एकवाक्यता करना ही पुष्ट करना है।

गायत्र—जिसके द्वारा गान अर्थात् स्तुति की जाय उसका नाम गायत्र है।

शक्वरी—शक्त्यर्थक शक्लृ धातुसे यह शब्द बना है इन्हींके द्वारा स्तुति करनेपर इन्द्रमें शक्तिका उदय हुआ था। शक्तिजनक होनेके कारण ही उन्हें शक्वरी कहते हैं।

ब्रह्मा—यज्ञकर्ममें त्रुटि होनेपर प्रायश्चित्तका निर्देश करता है। प्रणयन आदि कर्ममें अनुज्ञा देता है, यज्ञमें कोई प्रमाद न हो इसलिए कृताकृतावेक्षणरूप कर्म वही करता है—होता आदि तीन ऋत्विक मिलकर वाक्‌रूप यज्ञका संस्कार करते हैं, किन्तु ब्रह्मा तो अकेला ही मनोरूप सम्पूर्ण यज्ञमार्गका संस्कार करता है। इसलिए ब्रह्माका सर्वविद्याविद् होना आवश्यक है। इसीसे निरुक्तमें ब्रह्माको 'परिवृद्' कहा गया है।

अध्वर्यु—ध्वर् धातु हिंसाथक है। हिंसाका निषेध करनेके लिए यज्ञको अध्वर कहते हैं क्योंकि यज्ञ हिंसारहित है। इसमें जो बीज, ओषधि, काष्ठ एवं प्राणियोंकी हिंसा होती है, वह अभ्युदयका कारण होनेसे हिंसा नहीं है। द्वेषपूर्वक प्राणिवध ही हिंसा है। अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ। इसी अध्वरका जो साधक है, सर्वांग संवननके द्वारा संयोजक है—नेता है अथवा जो इसको सम्पन्न करनेका इच्छुक है उसे अध्वर्यु कहते हैं।

●

: 8 :

संज्ञान-सूक्त

[ऋग्वेद मण्डल 10, सूक्त 191]

संसमिद्युवसे वृषन्नग्रे विश्वान्यर्य आ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ 1॥

'कामवर्षी कल्याणकारी परमेश्वर! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें निश्चित रूपसे पूर्णतया व्याप्त हैं। आपके समान सर्वात्म और अद्वितीय कोई नहीं है। सम्पूर्ण वाग्विषय स्थूल प्रपञ्चमें सर्वोपरि आप ही सन्दीप्त एवं प्रकाशमान हैं। ऐसे आप हमें लौकिक, पारलौकिक, अलौकिक एवं पारमार्थिक सर्वविध सम्पत्तियोंसे भर दें।'

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ 2॥

'स्तुति करनेवाले जीवों! तुम लोग संघटित होकर काम करो। कदमसे कदम मिलाकर चलो। परस्पर विरोधका परित्याग करके एक ही प्रकारकी वाणी बोलो। एक स्वरमें बोलो। तुम लोगोंके मन एक ही प्रकारके संकल्प और ज्ञानसे युक्त हों अर्थात् तुममें मतभेद न हो, मतमेल हो। जैसे—पुरातन देवता एकमत होकर अपने-अपने हकके अनुसार अपना-अपना हविर्भाग स्वीकार करते हैं, वैसे ही तुमलोग भी वैमत्य अर्थात् मतभेदका परित्याग करके अपने-अपने भागकी अन्तर-बाह्य सम्पत्तियोंको स्वीकार करो। अधिकारानुसार आचरण ही कल्याणका हेतु है।'

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रणे वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ 3॥

'जो लोग एक साथ एक ही कर्म करना चाहते हैं उनका मन्त्र, स्तुति अथवा पारस्परिक मन्त्रणा एक ही प्रकारकी होनी चाहिए। उनकी समिति और उपलब्धिमें भी समानता होनी चाहिए। सबका मनन-साधन, अन्तःकरण समान—एक ही प्रकारका होना चाहिए। सबका चित्त—विचारजन्य ज्ञान परस्पर एक अर्थके लिए, एक उद्देश्यसे एक हो जाय। मैं तुम लोगोंको एक ही मन्त्रसे अभिमन्त्रित करता हूँ। समान एकविधतासे सबको संस्कृत करता हूँ। मैं तुम लोगोंको समान हविर्भोगसे आहुति देता हूँ।'

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ 4॥

'विद्वानो! तुम्हारा संकल्प और अध्यवसाय एक ही प्रकारका हो और तुम्हारे हृदय सर्वथा समान एक ही प्रकारके हों। तुम्हारा अन्तःकरण भी इसीसे समान हो। तुम्हारा परस्पर सहयोग सबसे श्रेष्ठ होगा। यही सम्पूर्ण शुभ परिणामोंका मूल कारण है।'

●

: 9 :

आत्म-सूक्त

[ऋ० मं० 10 सूक्त 125, अ० 1]

ऋग्वेदके दसवें मण्डलमें यह आत्मसूक्त है। अंभृण ऋषिकी पुत्री वाक् ब्रह्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न होकर अपनी सर्वात्म-दृष्टिको अभिव्यक्ति दे रही है। ब्रह्मवित्की वाणी ब्रह्मसे तादात्म्यापन्न होकर अपने आपको ही सर्वात्माके रूपमें वर्णन कर रही है। यह ब्रह्मस्वरूपा वाग्देवी ब्रह्मानुभवी जीवन्मुक्त महापुरुषकी ब्रह्ममयी प्रज्ञा ही है। इस सूक्तमें प्रति-पाद्य-प्रतिपादकका ऐकात्म्य विवक्षित है।

ॐ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ 1॥

'ब्रह्मस्वरूपा मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवाके रूपमें विचरण करती हूँ अर्थात् मैं ही उन-उनके रूपमें भास रही हूँ। मैं ही ब्रह्मरूपसे मित्र और वरुण दोनोंको धारण करती हूँ। मैं ही इन्द्र और अग्निका भी आधार हूँ। मैं ही दोनों अश्विनीकुमारोंका भी धारण-पोषण करती हूँ।'

सायणाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्यामें लिखा है कि वाग्देवीका अभिप्राय यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् सीपमें चाँदीके समान अध्यस्त होकर मुझमें प्रतीत हो रहा है। माया जगत्के रूपमें अधिष्ठानको ही दिखा रही है। यह सब माया विवर्त है। उसी मायाका आधार होनेके कारण ब्रह्मसे ही सर्वकी उत्पत्ति संगत होती है।

अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ 2॥

'मैं ही शत्रुनाशक, कामादि दोष-निवर्तक परमाह्लाददायी यज्ञगत सोम, चन्द्रमा, मन अथवा शिवका भरण-पोषण करती हूँ। मैं ही त्वष्टा

पूषा और भगको भी धारण करती हूँ। जो यजमान यज्ञमें सोमाभिषवके द्वारा देवताओंको तृप्त करनेके लिए हाथमें हविष्य लेकर हवन करता है उसको लोक-परलोकमें सुखकारी फल देनेवाली मैं ही हूँ।'

मूल मन्त्रमें 'द्रविण' शब्द है। इसका अर्थ है कर्मफल। कर्मफलदाता मायाधिपति ईश्वर है। वेदान्तदर्शनके तीसरे अध्यायके दूसरे पादमें यह निरूपण है कि ब्रह्म ही फलदाता है। भगवान् शंकराचार्यने अपने भाष्यमें इस अभिप्रायका युक्तियुक्त समर्थन किया है। यह ईश्वर ब्रह्म अपना आत्मा ही है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ 3॥

'मैं ही राष्ट्री अर्थात् सम्पूर्ण जगत्की ईश्वरी हूँ। मैं ही उपासकोंको उनके अभीष्ट वसु, धन प्राप्त करानेवाली हूँ। जिज्ञासुओंके साक्षात् कर्तव्य परब्रह्मको अपने आत्मके रूपमें मैंने अनुभव कर लिया है। जिनके लिए यज्ञ किये जाते हैं; उनमें मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। सम्पूर्ण प्रपञ्चके रूपमें मैं ही अनेक-सी होकर विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरमें जीवरूपसे मैं अपने-आपको ही प्रविष्ट कर रही हूँ। भिन्न-भिन्न देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें जो कुछ हो रहा है, किया जा रहा है वह सब मुझमें मेरे लिए ही किया जा रहा है। सम्पूर्ण विश्वके रूपमें अवस्थित होनेके कारण जो कोई जो कुछ भी करता है सो सब मैं ही हूँ।'

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति
यः प्राणिति य ईं श्रृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥ 4॥

'जो भोग भोगता है वह मुझ भोक्ताकी शक्तिसे ही भोगता है। जो देखता है; जो श्वासोच्छ्वासरूप व्यापार करता है और जो कही हुई बात सुनता है वह भी मुझसे ही। जो इस प्रकार अन्तर्यामिरूपसे स्थित मुझको नहीं जानते हैं, वे अज्ञानी दीन, हीन, क्षीण हो जाते हैं। मेरे प्यारे सखा!

मेरी बात सुनो! मैं तुम्हारे लिए उस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ, जो श्रद्धा-साधनसे उपलब्ध होती है।'

'श्रद्धि' शब्दका अर्थ श्रद्धा है। 'श्रत्' शब्दको उपसर्गवत् वृत्ति होनेके कारण 'कि' प्रत्यय हो जाता है। 'व' प्रत्यय मत्त्वर्थीय है। इसका अर्थ हुआ परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार श्रद्धा, प्रयत्नसे होता है। श्रद्धा आत्मबल है और यह वैराग्यसे स्थिर होती है। अपनी बुद्धिसे ढूँढ़नेपर जो वस्तु सौ वर्षमें भी प्राप्त नहीं हो सकती, वह श्रद्धासे क्षणभरमें मिल जाती है। यह प्रज्ञाकी अन्धता नहीं है, जिज्ञासुओंकी शोध और अनुभवियोंके अनुभवसे लाभ उठानेकी वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ 5॥

'मैं स्वयं ही इस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ। देवताओं और मनुष्योंने भी इसका सेवन किया है। मैं स्वयं ब्रह्म हूँ। मैं जिनकी रक्षा करना चाहती हूँ, उसको सर्वश्रेष्ठ बना देना चाहती हूँ। मैं चाहूँ तो उसे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा बना दूँ। अतीन्द्रियार्थदर्शी ऋषि बना दूँ और उसे बृहस्पतिके समान सुमेधा बना दूँ। मैं स्वयं अपने स्वरूप ब्रह्माभिन्न आत्माका गान कर रही हूँ।'

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ 6॥

'मैं ही ब्रह्मज्ञानियोंके द्वेषी हिंसारत त्रिपुरवासी त्रिगुणाभिमानी अहंकार असुरका वध करनेके लिए संहारकारी रुद्रके धनुषपर ज्या (तांत) चढ़ाती हूँ। मैं ही अपने जिज्ञासु स्तोताओंके विरोधी शत्रुओंके साथ संग्राम करके उन्हें पराजित करती हूँ। मैं ही द्युलोक और पृथिवीमें अन्तर्यामी-रूपसे प्रविष्ट हूँ।'

इस मन्त्रमें भगवान् श्रीरुद्र द्वारा त्रिपुरासुरके विजयकी कथा बीजरूपसे विद्यमान है।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥ 7॥

'इस विश्वके शिरोभागपर विराजमान द्युलोक अथवा आदित्यरूप पिताका प्रसव मैं ही करती हूँ। उस कारणमें ही तन्तुओंमें पटके समान आकाशादि सम्पूर्ण कार्य दीख रहा है। दिव्य कारणवारिरूप समुद्र जिसमें सम्पूर्ण प्राणियों एवं पदार्थोंका उदय-विलय होता रहता है, वह ब्रह्मचैतन्य ही मेरा निवासस्थान है। यही कारण है कि मैं सम्पूर्ण भूतोंमें अनुप्रविष्ट होकर रहती हूँ और अपने कारणभूत मायात्मक स्वशरीरसे सम्पूर्ण दृश्य कार्यका स्पर्श करती हूँ।'

सायणने 'पिता' शब्दके दो अर्थ किये हैं—द्युलोक और आकाश। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें कहा भी है—'द्यौः पिता'। तैत्तिरीय आरण्यकमें भी आत्मासे आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन है। वेङ्कटनाथने पिताका अर्थ आदित्य किया है।

'समुद्र' शब्दकी व्युत्पत्ति है—समुद् द्रवन्ति भूतजातानि अस्मादिति अर्थात् जिससे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥ ८॥

'जैसे वायु किसी दूसरेसे प्रेरित न होनेपर भी स्वयं प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मैं ही किसी दूसरेके द्वारा प्रेरित और अधिष्ठित न होनेपर भी स्वयं ही कारणरूपसे सम्पूर्ण भूतरूप कार्योंका आरम्भ करती हूँ। मैं आकाशसे भी परे हूँ और इस पृथिवीसे भी। अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण-विकारोंसे परे असङ्ग, उदासीन, कूटस्थ ब्रह्मचैतन्य हूँ। अपनी महिमासे सम्पूर्ण जगत्के रूपमें मैं ही बरत रही हूँ, रह रही हूँ।'

वेङ्कटनाथने 'आरभमाणा' का अर्थ 'संस्तम्भयन्ति' किया है। इसका अर्थ है सम्पूर्ण विश्व भूत-भुवनको मैं ही संस्तब्ध करती हूँ अर्थात् अपने-अपने भावमें स्थिर करती हूँ।

●

: 10 :

नासदीय-सूक्त

[ऋग्वेद दशम मण्डल अ० 11 सूक्त 129]

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शमेन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ 1॥

'इस जगत्का मूल कारण प्रलयदशामें शशविषाणके समान नितान्त असत् नहीं था; क्योंकि ऐसे कारणसे इस दृश्यमान जगत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उस समय स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्माके समान कोई दूसरी सत्ता भी नहीं थी। अभिप्राय यह है कि उस समय सत्, असत दोनोंसे विलक्षण कोई अनिर्वचनीय वस्तु ही थी। (यह ध्यान रखने योग्य है कि यहाँ परमार्थ सत्यका निषेध नहीं है; क्योंकि उसका अस्तित्व तो अगले मन्त्रमें आनीदवातं कहकर स्वीकार किया गया है) व्यावहारिक सत्य पृथिवी आदि लोक भी उस समय नहीं थे। पातालादि लोक नहीं थे और अन्तरिक्ष भी नहीं था। न उस समय कुछ आवरण करने योग्य था, न कुछ आवरण करनेवाला था। कौन किसको कहाँ रहकर आवरण करे? सबका आधारभूत देश भी तो उस समय नहीं था। जिन जीवोंको कर्मानुसार सुख-दुःख साक्षात्कार लक्षण भोग देनेके लिए सृष्टि बनती और रहती है, वे जीव और निमित्त भी तो उस समय नहीं थे। (सृष्टि-दशामें ब्रह्माण्डको भूत आवृत्त करते हैं। प्रलय-दशामें उपाधिका विलय हो जानेके कारण भोक्ता जीव भी लय-दशाको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए किसी वस्तुका भोग करनेके लिए किसी भोक्ताका होना सम्भव नहीं है, इसलिए निमित्तका

अभाव होनेके कारण भी उस समय भोग्य-प्रपञ्चके समान भोक्तृ-प्रपञ्च भी नहीं था। क्या उस समय दुष्प्रवेश और अत्यन्त अगाध जल था? नहीं, नहीं जल तो केवल अवान्तर प्रलयमें ही रहता है, महाप्रलयमें उसका रहना सम्भव नहीं है।'

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ 2॥

'संहारके लिए संहर्ताकी अपेक्षा होनेके कारण उस समय मृत्यु अवश्य रही होगी? नहीं, नहीं, उस समय मृत्यु भी नहीं थी। अच्छा; यदि मृत्यु नहीं थी तो अमृत—अमरण-प्राणियोंकी उपस्थिति रही होगी? नहीं; उस समय अमृत भी नहीं था। बात यह है कि जब सब प्राणियोंका भोग देनेवाला सम्पूर्ण परिपक्व कर्म उपभुक्त हो जाता है, तब भोग न होनेके कारण जगत्का होना निष्प्रयोजन हो जाता है। ऐसी स्थितिमें परमेश्वरमें संहारकी इच्छा उदय होती है—उस समय मृत्यु या उसके अभावके कारण होनेवाले अमरणकी प्राप्ति नहीं है।'

अच्छा, तो फिर इन सबका अधिकरण-काल होगा? नहीं, उस समय रात-दिन और इनका प्रकेत—अर्थात् प्रज्ञान नहीं था। क्योंकि सूर्य-चन्द्रमा ही नहीं थे। फिर तो मास, ऋतु, सम्बत्सर सबका निषेध हो गया। अब प्रश्न यह है कि फिर **तदानीं** अर्थात् उस समय इस कालवाचक शब्दका प्रयोग क्यों किया जाता है? इसका उत्तर है कि यह प्रयोग गौण है। जैसे यह निषेध **इदानीम्** इस समय किया जाता है। वैसे ही वह समय मायाके द्वारा उपस्थापित है, इसलिए कालके राहित्यमें भी कालवाचक शब्दका प्रयोग किया जाता है। हाँ; तो अब देखिये उस समय सर्ववेदान्तप्रसिद्ध सिद्ध ब्रह्मतत्त्व ही बिना वायुके श्वास ले रहा था, अर्थात् वह सन्मात्र रूपसे विद्यमान था। उस अप्राण, अमना, शुद्ध ब्रह्मतत्त्वका प्राणसे भी कोई सम्बन्ध नहीं था। आनीत इस क्रियाके द्वारा प्राणन् क्रिया अथवा उसका कर्त्ता विविक्षित नहीं है। जो निर्विशेष सन्मात्र ब्रह्म इस समय है वही उस समय था, यह अभिप्राय है। सत्ता विवक्षित है भूतकाल नहीं।

उस समय माया थी या सांख्यसम्मत सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूल-प्रकृति? अवश्य ही वह माया थी; क्यों? वह स्वधा थी जो अपने स्वरूपमें—ब्रह्ममें धारण की जाय—आश्रित रहे उसे स्वधा कहते हैं। प्रकृति स्वतन्त्र होती है और स्वधा-माया अनिर्वचनीय रूपसे कल्पित होती है। वह कल्पित गौण होनेपर भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं हो सकता; फिर भी जैसे अविद्याके कारण ब्रह्ममें मायाकी स्थिति मानी जाती है, वैसे ही उसके सम्बन्धका भी अभ्यास किया जाता है। ब्रह्म सत् है। माया सत्त्वासत्त्वसे अनिर्वचनीय है।

अब प्रश्न यह है कि एक दृक् और दूसरा दृश्य इन दोनों पदार्थोंको जब सत् और मायाके नामसे स्वीकार ही किया जा रहा है, तब तो सबकी विद्यमानता अपने आप ही सिद्ध हो गयी। निषेधसे क्या सिद्ध हुआ? ऐसा नहीं है। उस माया सहित ब्रह्मसे अन्य कुछ भी भूत-भौतिक जगत् यहाँतक कि सृष्टिके बाद जो भी जगत् प्रतीत होता है, वह उस समय सर्वथा नहीं था, नहीं था, यही निषेधका अभिप्राय है।

तम आसीत् तमसा गूलहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ 3॥

'यदि सृष्टिके पूर्व यह जगत् सर्वथा नहीं था तो इसका जन्म कैसे हुआ? क्योंकि 'जायते' इस 'जनन' क्रियाका कर्त्ता जायमान ही होता है—वह एक प्रकारका अवान्तर कारण ही है। ऐसी दशामें वह सृष्टिके नियत पूर्ववर्ती क्षणमें अवश्य ही रहा होगा। फिर कुछ नहीं था—ऐसा कहना नहीं बनता। इस आपत्तिका निराकरण करनेके लिए कहते हैं'—

सृष्टिके पूर्व तम ही था; और जगत्का मूल कारण तमसे ढँका हुआ था। जैसे रात्रिका अन्धकार सब पदार्थोंको ढँक लेता है वैसे ही उस तमने सबको अपने अन्दर गूढ़ कर रखा था, इस प्रसंगमें आत्म-तत्त्वको आवृत्त करनेके कारण भावरूप अज्ञान ही जिसको माया भी कहते हैं तमके रूपमें कहा गया है। उसी तमने इस जगत्को आवृत-संवृत कर रखा था। उसी

तममें-से नाम रूपका आविर्भाव ही जन्म है। [अभिप्राय यह है कि जो सृष्टिके पूर्व केवल असत् स्वीकार करनेवाले असद्वादी एवं असद्-कार्यवादी हैं उनका मत असंगत है।]

प्रश्न यह है कि जब कारण तमस्में जगद्रूप कार्य विद्यमान ही था तो रज नहीं था इस प्रकार उसका निषेध क्यों किया गया? इसका उत्तर देते हैं—रज नहीं था, पर तम था। तमसे सांख्यसम्मत तमोगुणका ग्रहण नहीं है; किन्तु वेदान्तसम्मत भावरूप अज्ञानको ही मूलकारण बताया गया है। सम्पूर्ण जगत् पहले अज्ञानरूप ही था। श्रुतिका अभीष्ट है अज्ञानका निवारण। अब प्रश्न यह है कि आवरण करनेवाला होनेके कारण तम कर्त्ता हैं; और आवृत्त होनेवाला होनेके कारण जगत् कर्म और कर्त्ता दोनों महाप्रलयमें भला एक कैसे हो सकते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—**अप्रकेत्तम्**। अप्रकेत शब्दका अर्थ है विशेषरूपसे ज्ञायमान न होना। ठीक है जगत् और तममें युक्तिसे कर्म और कर्त्ताभावकी सिद्धि होती है, तथापि व्यवहारदशाके समान महाप्रलय-दशामें दोनोंकी स्पष्ट पृथक्ता ज्ञात नहीं होती; क्योंकि वह **सलिल** है। सल् धातु गत्यर्थक है, इलच् प्रत्यय है। यह सम्पूर्ण जगत् सलिल अर्थात् कारणसे संगत पूर्णरूपसे अविभागापन्न था। अथवा जैसे दुग्धमिश्रित जलका पृथक् विज्ञान कठिन है उसी प्रकार तमसे मिले हुए जगत्का।

अब यह प्रश्न होता है कि विविध, विचित्र, रूप-बहुल प्रपञ्चको अत्यन्त तुच्छ तममें क्षीर-नीरके समान कैसे अभिभूत कर दिया; फिर तो तम भी क्षीरके समान बलवान् होगा? ऐसी दशामें यह दुर्बल जगत् सृष्टिके समय भी उसका अतिक्रमण करके कैसे प्रकट हो सकता है? इसीलिए कहा गया कि वह तम तुच्छ है। वह विचार करनेपर न सत् सिद्ध होता है न असत्। वह भावरूप-अज्ञानमात्र है और उसने केवल आच्छादित कर रखा है। इस प्रकार यद्यपि यह जगत् उस तमसे एकीभूत-सा रहता है—अलगाव ज्ञात नहीं होता, तथापि क्या-क्या सृष्टि बनानी है—इस पर्यालोचनरूप तपस्याकी महिमासे वह तममें-से निकल

आता है। **यस्य ज्ञानमय तपः** इस श्रुतिने तपको ज्ञानमय बताया है। इसका अभिप्राय यह है कि जगत्के मूलमें विद्यमान चैतन्य-कारण ही अज्ञानान्धकारके द्वारा आच्छादित आभु अर्थात् उपादान कारणको प्रपञ्चके रूपमें प्रकटकर देता है। **आ समन्तात् भवति इति आभु**—उपादान कारण।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥4॥

'अच्छा; माना कि ईश्वरके पर्यालोचनरूप तपसे जगत्की पुनः उत्पत्ति हुई परन्तु उस पर्यालोचनका भी तो कोई कारण होना चाहिए? अवश्य। वह कारण है सृष्टिके पूर्व परमेश्वरके मनमें काम अर्थात् सृष्टि करनेकी इच्छाका उदय होना। भला, ईश्वरके मनमें सृष्टिकी इच्छा ही क्यों हुई? अतीतके महाकल्पके जीवोंके अन्तःकरणोंकी वासनाएँ मायामें विलीन थीं; उन्हींके कारण ईश्वरके मनमें पर्यालोचन एवं सिसृक्षाका उदय हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मामें स्वयंका पर्यालोचन काम अथवा अन्तःकरण नहीं है। जीवोंके मायामें विलीन भावके कारण ही उनका उदय होता है।'

भावी प्रपञ्चका बीज-रेत अतीत कल्पमें अनुष्ठित प्राणियोंके कर्म ही सृष्टिके पूर्व विद्यमान थे और वे ही बढ़कर—परिपक्व होकर फलोन्मुख हो गये थे। सर्वकर्मफल-प्रद, सर्वसाक्षी, कर्माध्यक्ष परमेश्वरके मनमें सिसृक्षा होनेका यही कारण है। [इसी अभिप्रायको तैत्तरीय-आरण्यकमें भी प्रकट किया गया है **सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च** (तै. आ. 8, 6)]

अतीत, अनागत एवं भविष्यके ज्ञाता क्रान्तदर्शी योगियोंने अपने हृदयमें निरुद्ध-बुद्धिसे विचार करके अनुभव किया है कि इस दृश्यमान सृष्टिका मूलकारण कल्पान्तरमें अनुष्ठित प्राणियोंके कर्मसमूह ही हैं। और वे सृष्टिके पूर्व सद् विलक्षण अव्याकृत कारणमें रहते हैं। यह बात उन्होंने माया और परमात्माका विवेक करके सार-सार रूपमें निकाला था।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।

रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥ 5॥

'इन सृष्टिके कारण अविद्या, काम तथा कर्मोंकी जिनसे आकाशादिकी सृष्टि हुई है—रश्मियाँ एक साथ ही सम्पूर्ण कार्यवर्गकी सृष्टि कर देती हैं, जैसे सूर्यकी किरणें उदयके अनन्तर निमेषमात्रमें एक साथ सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं। क्या यह सृष्टि पहले कहीं किसीके मध्यमें आड़ी-टेढ़ी स्थित हुई या किसीके नीचे स्थित हुई अथवा किसीके ऊपर स्थित हुई? यह तो विद्युत् और प्रकाशके क्रमनिरूपणके समान दुर्लक्षण है। अभिप्राय यह है कि यह सृष्टि एक साथ ही निष्पन्न हो गयी।'

सृष्ट कार्योंमें कोई भाव रेतोधा अर्थात् बीजभूत कर्मके कर्त्ता-भोक्ता जीव थे और कुछ दूसरे आकाशादि महान् भाव, भोग्य थे। अभिप्राय यह है कि मायासहित परमेश्वरमें सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करके तथा स्वयं उसमें प्रवेश करके भोक्ता एवं भोग्यका विभाग करता है। भोक्ता जीव है और भोग्य स्वधा-अन्न है। भोक्ताकी अपेक्षा भोग्य—प्रपञ्च निकृष्ट होते हैं। भोक्ता स्वयं प्रयत्नशील भोग्यसे उत्कृष्ट होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि आकाशादिरूप भोग्य प्रपञ्च भोक्तृप्रपञ्च जीवोंके लिए बनाया गया है। बनानेवाला मायासहित परमेश्वर है। इन्हींसे यह जगत्का व्यवहार चल रहा है।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

अर्वान्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥ 6॥

'यह विविध-विचित्र, भूत-भौतिक, भोक्ता-भोग्य आदिके रूपमें दृश्यमान सृष्टि किस उपादान कारणसे और किस निमित्त कारणसे प्रकट हुई है—इस तथ्यको परमार्थतः कौन जानता है; और इस जगत्में उसका कौन प्रवचन कर सकता है? इस भूत-भौतिक प्रपंचके विसर्जनके बाद ही देवता, मन, इन्द्रियाँ सब उत्पन्न हुए हैं; तब वे भला उस मूल कारणको कैसे जान सकते हैं? ऐसी अवस्थामें कौन है—वह जो जानता है कि यह सृष्टि किससे-जिससे-उससे प्रकट हुई है। कहनेका अभिप्राय यह है कि

इस सृष्टिका मूलतत्त्व दुर्विज्ञेय है। क्योंकि जो वस्तु जानी जाती है वह तो दृश्य जड़ विकारी ही होती है। जिसको हम कारणके रूपमें अनुमान करते हैं या जानते हैं, वह भी छिन्न-भिन्न होनेवाला अन्य ही होता है। ऐसी स्थितिमें कार्य-कारण कल्पनाके प्रकाशक सर्वाधिष्ठान स्वयंप्रकाश प्रत्यक् ब्रह्मको ज्ञानका विषय कैसे बनाया जा सकता है?'

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ 7॥

जिस विवर्ती अभिन्न निमित्तोपादान कारणसे अर्थात् कल्पित कार्यके कल्पित कारणसे इस विविध, विचित्र, परस्पर-विपरीत सृष्टिका उदय हुआ है; वह भी इस सृष्टिको अपने स्वरूपमें धारण करता है, अथवा धारण नहीं करता है, अथवा दूसरा कोई तो धारण कर ही कैसे सकता है? यदि धारण करे तो ईश्वर ही करे दूसरा नहीं कर सकता—यह अभिप्राय है। कहनेका अभिप्राय यह है कि अविद्याकालमें जो प्रपञ्च भासता है उसके आधाररूपसे तो परमात्मा है, परन्तु बोधकालमें अथवा बोधानन्तर जब सृष्टिका अस्तित्व ही बाधित हो जाता है तब स्वरूपभूत अद्वयतत्त्वमें कौन किसको धारण करेगा? '**मत्स्थानि सर्वभूतानि। न च मत्स्थानि भूतानि।**'

[इस सम्बन्धमें अनेक भ्रान्तियाँ हैं, कोई कहते हैं जगत् किसीसे उत्पन्न नहीं होता; ज्यों-का-त्यों रहता है। उन्हें **यतः** शब्दका अर्थ समझ लेना चाहिए। **यतः** अर्थात् जिससे। यहाँ पञ्चमी विभक्ति जगत्के उपादान कारण परमात्माका ही संकेत करनेके लिए है। कइयोंका मत है कि प्रकृति अथवा परमाणुओंसे जगत्की उत्पत्ति हुई है। उसके उत्तरमें कहते हैं कि वही उपादानरूप परमात्मा स्वयं निमित्तरूपसे भी यदि इस सृष्टिका विधान—निर्माण करता है अथवा नहीं करता है—इसको कौन जान सकता है? असंदिग्धमें भी संदिग्धकी भाँति बोलना **यदि वेदाः प्रमाणम्**की तरह है। अभिप्राय यह है कि अज्ञानकालमें सत्यवत् प्रतीयमान सृष्टिका वह निर्माता है और बोधकालमें सृष्टिका बोध हो जानेपर उसका निर्मातृत्व

भी नहीं है। इसीसे कोई बिना किसी कर्त्ताके प्रधानसे यह सृष्टि स्वयं हो गयी—ऐसा मान बैठते हैं—परन्तु उन्हें जगत्में अचिन्त्य रचना-चातुरी—अद्भुत विधान-कौशलका तो कुछ पता ही नहीं है। कोई कहते हैं कि उपादानसे विलक्षण तटस्थ परमात्माने ही सृष्टिका निर्माण किया। सच है कि जिसको देवता, मन, इन्द्रियाँ कोई भी विषय नहीं बना सकता उसको किसी और प्राणीने जान लिया इसकी तो चर्चा ही क्या है? ऐसी स्थितिमें प्रमाण-पद्धतिके द्वारा सृष्टि-परीक्षा करनेका क्या अर्थ है? अवश्य ही इसके मूलमें ईश्वर प्रमाणित होता है।]

इस सृष्टिका जो अध्यक्ष ईश्वर परम व्योम रहता है, वह भी कहीं इसको जानता है अथवा नहीं जानता। परमका अर्थ है उत्कृष्ट एवं सत्य। व्योम शब्दका अर्थ है आकाश। आकाशवत् निर्मल स्वयंप्रकाश। यह व्योम शब्द वि पूर्वक तर्पणार्थक अव् धातुसे भी बनता है। ऐसी दशामें उसका अर्थ हुआ विशेष तृप्त निरतिशय-आनन्दस्वरूप। यदि गत्यर्थक अव् धातुसे व्योम शब्दकी निष्पत्ति मानें तो उसका अर्थ होगा विशेषरूपसे व्याप्त। देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न। यदि ज्ञान अर्थमें व्युत्पत्ति मानें तो उसका अर्थ होगा—विशिष्ट ज्ञानस्वरूप। ऐसे अपने आत्मामें ही वह प्रतिष्ठित है। **स्वे महिम्नि प्रतिष्ठिताः** अथवा अपने स्वरूपमें ही। प्रतिष्ठा प्रतिष्ठेय भाव भी नहीं है। यही जगत्के अध्यक्षका परम व्योममें रहना है। ऐसा परमात्मा इस सृष्टिके मूलकारण अर्थात् अपने आपको जानता है; अर्थात् अज्ञानि-कल्पित सृष्टिका वह ज्ञाता है। **यदि वा न वेद**का अभिप्राय यह है कि स्वदृष्टिसे सृष्टि है ही नहीं तो जानेगा किसको? ऐसी स्थितिमें दूसरा कोई उसको जाने, भला ऐसा कैसे सम्भव है?

●

: 11 :

उच्छिष्ट-ब्रह्म-सूक्तम्

[अथर्ववेद, काण्ड 11, सूक्त 9, मन्त्र 1]

ॐ उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥ 1॥
उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः॥ 2॥

'इस भासमान द्वैतप्रपञ्चका निषेध कर देनेपर बाधावधिरूपसे जो प्रत्यग्भिन्न ब्रह्म शेष रह जाता है उसीको कहते हैं उच्छिष्ट। उसमें समग्र नामप्रपञ्च एवं सर्व रूपप्रपञ्च अध्यस्त है। उसीमें सब लोक अध्यारोपित हैं। उच्छिष्ट ब्रह्ममें ही इन्द्र, अग्नि एवं सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च आरोपित हैं एवं उससे भिन्न नहीं हैं।'

'उस उच्छिष्ट अर्थात् अबाध्य ब्रह्ममें द्युलोक, पृथिवी एवं समस्त भूत–भौतिक दृश्यादृश्य सृष्टि कल्पित है। उस उच्छिष्ट ब्रह्ममें समुद्र आदि सर्वविध जल, चन्द्रमा एवं वायु भी अध्यस्त ही हैं। अभिप्राय यह कि उच्छिष्ट ब्रह्मके सत्, चित् एवं आनन्दसे दूसरी वस्तुओंमें सत्ता, स्फूर्ति एवं प्रियता प्रतीत हो रही है।'

श्रुतियोंमें कहीं अवधिरूपसे, कहीं पुच्छरूपसे, कहीं अधिष्ठान–रूपसे ब्रह्मका निरूपण उपलब्ध होता है। यदि कार्य, दृश्य एवं विनश्वर रूपसे विश्वप्रपञ्चका निरूपण न किया जाय तो अकार्यकारण, अदृश्यादृश्य तथा अविनाशीरूपसे ब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिए कोई द्वार ही न मिले। अतएव अध्यारोप–अपवादकी प्रक्रियासे ब्रह्मका निरूपण किया जाता है। जिससे दृश्यमान जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वह अनुत्पन्न है। जिसमें लय होता है वह अलय है। जिसमें आभास होता है वह अभास्य है। इसका अर्थ हुआ कि समग्र प्रपञ्च अपने अभावके अधिष्ठानमें ही भास रहा है। यही कारण है कि प्रपञ्च बाध्य एवं मिथ्या है। प्रपञ्चके बाधित अथवा मिथ्यात्वेन निश्चित हो जानेके पश्चात् जो शिष्ट है वही है उच्छिष्ट।

उत्=ऊर्ध्वम्, शिष्ट=अबाध्य। यही प्रत्यगात्मासे अभिन्न ब्रह्म है। अतएव श्रुतिने विकारको वाचारम्भण मात्र कहा है।

बृहदारण्यक श्रुतिसे ब्रह्ममें मूर्तामूर्त द्विविध रूपकी कल्पना करके बादमें नेति-नेतिके द्वारा उसका निषेध कर दिया और स्पष्ट कह दिया कि इससे परे और कुछ नहीं है। यही व्यावहारिक सत्यका भी परमसत्य अर्थात् परमार्थ सत्य है। वास्तविक सत्यका बाध नहीं हो सकता, भ्रम-कल्पित सत्यका ही बाध हो सकता है। बुद्धि समसत्ताक बुद्धिका ही विरोध करती है। कल्पित आकार कट गया, सत्य रह गया। यही है उच्छिष्ट परं ब्रह्म। दो बार 'नेति-नेति' यह आदेश नाम एवं रूपका मूर्त तथा अमूर्तका अज्ञान अथवा वासनाका और अध्यात्म तथा अधिदैवका भेद बाधित कर देता है। सत्यका सत्य शिव-अद्वैत ही उच्छिष्ट ब्रह्मतत्त्व है। 'नेति-नेति'के निषेधसे ब्रह्मसत्यका निषेध नहीं हो सकता; क्योंकि वह श्रुतिके द्वारा प्रतिज्ञात सत्य है। साथ ही, यह भी है कि निषेध अपने प्रकाशक अधिष्ठानका निषेध नहीं कर सकता।

आचार्य अभिनवगुप्तने कहा है—

निजबोधजठरहुतभुजि भावास्सर्वे समर्पिता हठतः।
विजहति भेदविभागं निजशक्त्या तं समिन्धानाः॥

(तन्त्रालोक 3.262)

आत्मज्ञानके उदराग्निमें सभी पदार्थ विवशतया हुत हैं। इन पदार्थोंसे ज्ञानाग्नि और भी प्रज्वलित होती है और उसमें ये पदार्थ अपना भेद-विभाग छोड़ देते हैं।

अस्ति और भातिका चाहे जो रूप हो, वह आत्माका ही रूप है; क्योंकि उसके अतिरिक्त न सत् है, न भान है। केवल स्वभाव-संवित् भास रही है। ग्राह्य एवं ग्रहीताका भेद सर्वथा व्यर्थ है।

सायणाचार्यकी व्याख्याका सार दिया गया है। उनका कहना है कि दृश्यप्रपञ्चका निषेध कर देनेपर बाधावधिरूपसे जो अवशेष रह जाता है, वही उच्छिष्ट ब्रह्म है। शुक्तिमें आरोपित रजतके समान नाम-रूप, शब्द-अर्थ दोनों आरोपित हैं। जो मन्त्रमें लोक, इन्द्र आदिका नाम है वह विशेष निर्देश है और सम्पूर्ण प्रपञ्चका उपलक्षण है। ●

: 12 :

सूर्य-सूक्त

[ऋग्वेद मण्डल 1 सूक्त 115]

ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुमित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ 1॥

'प्रकाशमान रश्मियोंका समूह अथवा राशि-राशि देवगण सूर्यमण्डलके रूपमें उदित हो रहे हैं। यह मित्र, वरुण, अग्नि और सम्पूर्ण विश्वके प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं। इन्होंने उदित होकर द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्षको अपने देदीप्यमान तेजसे सर्वतः परिपूर्ण कर दिया। इस मण्डलमें जो सूर्य हैं, वह अन्तर्यामी होनेके कारण सबके प्रेरक परमात्मा हैं तथा जंगम एवं स्थावर सृष्टिके आत्मा हैं।'

चित्रम्—इस शब्दका अर्थ सायणने 'आश्चर्यकर' किया है। स्कन्दस्वामीने 'विचित्र-विचित्र' और 'पूज्य', वेङ्कटनाथने 'चायनीय' अर्थात् चयन करने योग्य। मुद्गल सायणसे सहमत हैं। 'चायनीय' अर्थ वैज्ञानिक पक्षका है। किरणोंके चयनसे नाना प्रकारके व्यावहारिक कार्य सिद्ध हो सकते हैं।

देवानाम्—संस्कृत भाषामें 'दिवु' धातु अनेक अर्थोंमें प्रसिद्ध है—व्यवहार द्युति, स्तुति, मोद, मद, क्रीडा, विजिगीषा, स्वप्न, कान्ति, गति यथायोग्य सभी अर्थोंमें जोड़ सकते हैं।

सूर्य आत्मा—सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक कार्यवर्गका कारण है। कार्य कारणसे अतिरिक्त नहीं होता। (देखिये, ब्रह्मसूत्र 2.1.14)। चराचर जगत्का जीवनदाता होनेसे सूर्यको आत्मा कहा है। सूर्योदय होनेपर निश्चेष्ट जगत् चेतनयुक्त सचेष्ट हो जाता है। सूर्य सबका प्राण अपने साथ लेकर आता है। (तैत्तिरीय आरण्यक (1.14.1)।

आप्राः—यह 'प्रा पूरणे' का लङ् लकारका रूप है। भर देता है, तर कर देता है।

जो सबका आत्मा है, वही सब शरीरमें फुरनेवाले 'मैं-मैं' का एक आत्मा है अर्थात् सूर्यान्तर्यामी और अन्त:करणान्तर्यामी चैतन्य उपाधि-निर्मुक्त दृष्टिसे एक ही है। सूर्य शब्दका मूल है 'सृ' धातु, जिसका अर्थ गति है अथवा 'षू' धातु, जिसका अर्थ प्रेरण है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' अर्थात् प्रेरक परमात्मा ही सूर्य हैं।

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
मत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्॥ 2॥

'सूर्य गुणमयी एवं प्रकाशमान उषा देवीके पीछे-पीछे चलते हैं जैसे कोई मनुष्य मार्गमें सर्वांग-सुन्दरी युवतीका अनुगमन करे। जब सुन्दरी उषा प्रकट होती है तब प्रकाशके देवता सूर्यकी आराधना करनेके लिए कर्मनिष्ठ मनुष्य अपने कर्त्तव्य-कर्मका सम्पादन करते हैं। सूर्य कल्याण-रूप हैं और उनकी आराधनासे, कर्त्तव्य-कर्मके पालनसे कल्याणकी प्राप्ति होती है।'

देवीम्: 'युग' शब्द कालका वाचक है। उससे तत्तत् कालके कर्त्तव्य लक्षित होते हैं जैसे, दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र आदि। 'युग' शब्दका दूसरा अर्थ है—हलके या रथके अवयव (जुए), जिन्हें बैलके कन्धेपर रखते हैं। प्रात:काल किसान लोग जुए ले-लेकर खेती करनेके लिए घरसे निकलते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्तर्यामीकी प्रेरणासे और सूर्यके प्रकाशमें लोग अपने-अपने कर्त्तव्यका वहन करते हैं। बिना प्रेरणा और ज्ञानके कर्त्तव्य-पालनमें प्रवृत्ति नहीं होती। किसी-किसीके मतमें युग शब्दका अर्थ युग्म=जोड़ा अर्थात् पति-पत्नी है। दोनों मिलकर पूरी शक्तिसे कर्त्तव्य-कर्मका पालन करते हैं।

मर्य : इस शब्दका अर्थ है—मरणशील मनुष्य।

भद्रम् : 'भवद् रमयति' अर्थात् जो होनेके साथ ही कल्याणकारी हो। तात्पर्य यह है कि मनुष्यको अर्न्तयामीकी प्रेरणासे कर्म करना चाहिए, अज्ञानान्धकारमें नहीं। अपना उद्देश्य मङ्गल हो, कर्म मङ्गलमय हो। मङ्गलमयकी पूजा हो।

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुयाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः॥ 3॥

'सूर्यका यह रश्मिमण्डल अश्वके समान उन्हें सर्वत्र पहुँचानेवाला चित्र-विचित्र एवं कल्याणरूप है। यह प्रतिदिन अपने प्राचीन पथपर ही चलता है और अर्चनीय तथा वन्दनीय है। यह सबको नमता है, नमनकी प्रेरणा देता है और स्वयं द्युलोकके ऊपर निवास करता है। यह तत्काल द्युलोक और पृथिवीका परिभ्रमण कर लेता है।'

इस मन्त्रमें रश्मिमण्डलके व्याससे मानव-समाजके उन्नति-पथका निर्देश है। मनमें कल्याण-भावना हो। जीवन गतिशील हो। प्रकाशमयी दृष्टि हो। परिस्थितिका ध्यान हो। परम्परासे अनुभूत हो। जनताकी अनुकूलता हो। हृदयमें विनय हो। लोकदृष्टिसे प्रशस्त हो। ऐसा चरित्र उन्नतिकी ओर त्वरित गतिसे बढ़ता है और सारे विश्वको व्याप्त कर लेता है।

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ 4॥

'सर्वान्तर्यामी प्रेरक सूर्यका यह ईश्वरत्व और महत्त्व है कि वह प्रारम्भ किये हुए किन्तु अपरिसमाप्त कृष्णादि कर्मको ज्यों-का-त्यों छोड़ कर अस्ताचल जाते समय अपनी किरणोंको इस लोकसे अपने आपमें समेट लेता है। साथ ही उसी समय अपने रसाकर्षी किरणों और घोड़ोंको एक स्थानसे खींचकर दूसरे स्थानपर नियुक्त कर देता है। उसी समय रात्रि अन्धकारके ढक्कनसे सबको ढक देती है।'

सूर्यकी स्वतन्त्रता ही ईश्वरता है। वह कर्मासक्त नहीं है। स्वतन्त्रतासे कर्म पूरा होनेके पहले ही उसे छोड़ देता है। कर्म-पूर्तिकी अपेक्षा या प्रतीक्षा नहीं करता। ठीक इसी प्रकार मनुष्यको चाहिए कि वह फलासक्तिसे तो दूर रहे ही, कर्मासक्तिसे भी बचे। आजतक सृष्टिके कर्म किसने पूरे किये हैं? केवल कालका पेट भरते हुए अपने कर्त्तव्य करते चलना चाहिए।

सूर्यकी महिमा अथवा माहात्म्य यह है कि इन फैली हुई किरणोंको समेट लेना बड़े-बड़े देवताओंके लिए भी महान् प्रयत्न और लम्बे समयके द्वारा भी साध्य नहीं है। सूर्य उन्हें बिना परिश्रमके तत्काल उपसंहृत कर लेते हैं। मनुष्यको अपने कर्मोंका जाल उतना ही फैलाना चाहिए जितना वह अनायास और तत्काल समेट सकता हो अन्यथा अपने फैलाये जालमें स्वयं फँस जायेगा। सूर्यका यह स्वातन्त्र्य और सामर्थ्य ही उसका देवत्य अथवा ईश्वरत्व है।

सूर्यकी उपस्थिति ही ज्ञान-प्रकाशका विस्तार करती है। दिन होता है, लोग कर्म करते हैं। उसकी अनुपस्थिति अज्ञानान्धकार है, उसमें लोग अपने कर्तव्य कर्म छोड़ देते हैं। वही रात्रि है।

कर्तु : यह कर्मका वाचक है।

सञ्भार : इसमें 'ह' का 'भ' हो गया है।

सधस्थ : सह स्थान अथवा रथ।

सिम : सर्व।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥ 5॥

'प्रेरक सूर्य प्रातःकाल मित्र, वरुण और समग्र सृष्टिको सामनेसे प्रकाशित करनेके लिए प्राचीके आकाशीय क्षितिजमें अपना प्रकाशकरूप प्रकट करते हैं। इनकी रसभोजी रश्मियाँ अथवा हरे घोड़े बलशाली रात्रिकालीन अन्धकारके निवारणमें समर्थ विलक्षण तेज धारण करते हैं। उन्हींके अन्यत्र जानेसे रात्रिमें काले अन्धकारकी सृष्टि होती है।'

दिनका देवता मित्र है, रात्रिका वरुण। इनसे सभी जगत् उपलक्षित होता है। सूर्य दोनों देवताओं तथा जगत्का प्रकाशक एवं प्रेरक है। दिन और रात—दोनोंका विभाग सूर्यसे ही होता है।

पाजः : यह रक्षणार्थका 'पा' धातुसे बना हुआ रूप है। इसका अर्थ है—बल। इसका कभी अन्त नहीं होता। सम्पूर्ण जगत्में व्यापक और देदीप्यमान है। यह बल ही प्रकाशका आनयन और अपनयन करता है।

यहाँ यह कहा गया है कि सूर्यकी किरणोंमें ही इतना बल है तब सूर्यकी महिमाका गान कौन कर सकता है?

स्कन्दस्वामीने कहा है कि जब सूर्य मेरुसे व्यवहित होता है तब तमकी सृष्टि करता है इसलिए देशान्तरस्थ सूर्यका ही रूप तम है।

सूर्यका भौतिकरूप सूर्यमण्डल है। आधिदैविक रूप तदन्तर्यामी पुरुष है। आध्यात्मिक पुरुष नेत्रस्थ ज्योतिर्मय द्रष्टा है। नाम-रूपात्मक उपाधिके पृथक्करणसे सूर्य ब्रह्म ही है।

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ 6॥

'हे प्रकाशमान् सूर्य-रश्मियो! आज सूर्योदयके समय इधर-उधर बिखरकर तुम लोग हमें पापोंसे निकालकर बचा लो। न केवल पापसे ही, प्रत्युत जो कुछ निन्दित है, गर्हणीय है; दुःख-दारिद्र्य है, सबसे हमारी रक्षा करो। जो कुछ हमने कहा है, मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्युलोकके अधिष्ठातृ देवता उसका आदर करें, अनुमोदन करें; वे भी हमारी रक्षा करें।'

प्रातःकालीन प्रार्थनामें रात्रि-संचित समग्र शक्तियोंका सन्निवेश हो जाता है। प्रार्थनामें बल और दृढ़ता आ जाती है। वह जीवन-निर्माणके लिए एक सुनहरा अवसर है।

मित्र मृत्युसे बचानेवाला अभिमानी देवता है। वरुण अनिष्टोंका निवारक रात्रि-अभिमानी। अदिति अखण्डनीय अथवा अदीन देवमाता। सिन्धु स्यन्दनशील अभिमानी देवता। पृथिवी भूलोककी अधिष्ठातृ-देवता और द्यौ द्युलोकका।

इन सब देवताओंसे प्रार्थना करनेका अर्थ है—हमारे जीवनमें पापकर्म, दुःख-दारिद्र्य और गर्हणीयके लिए कोई स्थान ही नहीं है।

●

इन्द्र-सूक्त

[ऋग्वेद, मण्डल 2, सूक्त 12]

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥ 1॥

'सज्जनो! जो जन्म-सिद्ध रूपसे देवताओंका प्रधान है, मनस्वियोंमें अग्रगण्य है, वह स्वयं तो प्रकाशमान है ही, अपने वृत्रवधादि कर्मोंके द्वारा सभी देवताओंसे आगे बढ़ गया, उनको अपना अंग बनाकर स्वयं अंगी बन गया। जिसके बलसे द्युलोक और पृथिवीलोक भयभीत एवं नियन्त्रित रहते हैं। जो अपनी महती सेनाके बल-महिमासे सम्पन्न है, वह इन्द्र है।'

इस मन्त्रके भाष्यमें सायणाचार्यने 'बृहद्देवता' से एक इतिहास उद्धृत किया है। गृत्समद ऋषिने तपस्याके द्वारा इन्द्रसे तादात्म्य प्राप्त कर लिया। उनका शरीर बहुत बड़ा हो गया। वे इस लोकमें, स्वर्गमें और आकाशमें व्याप्त दीखने लगे। उन्हींको इन्द्र समझकर धुनि और चुमुरिने उनपर आक्रमण कर दिया। ऋषिने उन्हें इन्द्रकी महिमा समझानेके लिए इस सूक्तका गान किया। थोड़े परिवर्तनके साथ यह कथा महाभारतमें भी दी गयी है।

इन्द्र : देवताका यह स्वभाव है कि वह अपने तत्त्वको अपने नाममें छिपाकर रखता है, जिससे अज्ञानी लोगोंके लिए वह परोक्ष ही रहे। विद्वान् पुरुष उसके नामकी व्युत्पत्तिके द्वारा निवारण कर देते हैं और दिव्य दृष्टिसे उसके द्वारा होनेवाले सब कर्मोंको देखते हैं। इसलिए किसी भी नामकी व्युत्पत्ति बतानेमें विद्वान् लोग बहुत परिश्रम करते हैं और उसका लाभ भी है। इन्द्र अध्यात्म, अधिदैव एवं अधिभूत रूपसे भी एक महत्त्वपूर्ण देवता है। इसलिए उसके नामका अर्थ ठीक-ठीक समझना चाहिए। 'इन्द्र' शब्दमें मूलतः दो अक्षर है—पहला 'इ' और दूसरा 'द'। पहला 'इरा' का 'इ' है और दूसरा दारणार्थक 'दृ' धातुका 'द'। इन्द्र ही

वर्षाके द्वारा अन्नको विदारण करके उसे अंकुरित करता है। अन्नका दान करता है अथवा अन्नका धारण करता है। 'दा', 'धा' धातुसे भी 'रक्' प्रत्यय करके 'इन्द्र' शब्द बनता है। 'इराद' अथवा 'इराध' को परोक्ष रूपसे इन्द्र कहते हैं।

'इन्दु' शब्दका अर्थ है—सोम। वह उसके लिए द्रवण (गमन) करता है अथवा उसमें रमता है। इसलिए भी उसकी संज्ञा 'इन्द्र' है। 'इन्ध्' धातुसे भी 'इन्द्र' शब्द बनता है। उसका अर्थ 'दीप्ति' है। वह अधिदैव अथवा अध्यात्ममें स्थित होकर भोजन देकर अथवा अन्नका विभाग करके प्राणियोंको द्युतिमान् बनाता है इसलिए इन्धको ही 'इन्द्र' कहते हैं; क्योंकि यह शरीरके भीतर रहकर प्राणोंके द्वारा सभी इन्द्रियोंको शक्ति देता है। अत: समिन्धन् करनेके कारण भी इसको 'इन्द्र' कहते हैं।

आग्रायणाचार्यके मतमें 'इन्द्र' शब्दका मूल 'इदंकरण' है। 'इदं' शब्दका अर्थ है—सब कुछ। 'करण' शब्दका अर्थ है—करनेवाला। 'इदंकर' को ही 'इन्द्र' कहते हैं। औपमन्यव आचार्यका कहना है कि 'इदं दर्शन' से अथवा 'इदं द्रष्टा' से 'इन्द्र' शब्द बना है। इसका अर्थ होता है—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी—सबका द्रष्टा।

परमैश्वर्यवाची 'इदि' धातुसे 'इन्द्र' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—परमेश्वर। शत्रुका दारण करनेवाला अथवा द्रावण करनेवाला इन्द्र है। वह याज्ञिकोंका आदर भी करता है।

जात : इन्द्रको 'जात' कहनेका अभिप्राय है कि यह ईश्वरका सगुण रूप है। परमात्माका अजात रूप है—ब्रह्म। वह निर्गुण है। 'जात' का अर्थ है—मायासे अवच्छिन्न, मायामें प्रतिबिम्बित अथवा मायामें आभास। सृष्टिका कर्त्तत्व, अनेक रूपोंमें उपास्यत्व, भक्तोंपर अनुग्रह, उपासकोंका संकट दूर करना और उनके मनोरथ पूर्ण करना—यह सब इसी 'जात' ब्रह्मका काम है। वह वस्तुत: अजन्मा रहकर ही जात होता है—**अजायमानो बहुधा व्यजायत, स उ श्रेयान् भवति जायमानः।** उपासकोंका कल्याण करनेवाला यही ईश्वरका उपास्य रूप है।

पर्यभूषत् : इस क्रियापदका अर्थ है—स्वयं स्वामी होकर सब देवताओंको अनुग्राह्य रूपसे स्वीकार किया—**पर्यगृह्णात्**। दूसरा अर्थ है—सबकी रक्षा की—**पर्यरक्षत्**। तीसरा अर्थ है—प्रभावसे सबके आगे बढ़ गया—**अत्याक्रामत**। चौथा अर्थ है—सबको पराभूत कर दिया—**पर्यभवत्**। पाँचवा अर्थ है—सबको अलंकृत कर दिया। क्रियापद चाहे कुछ भी हो, सबका अर्थ है वह देवताओंसे अधिक प्रभावशाली है।

शुष्म : 'शुष्म' शब्दका अर्थ है—शरीर अथवा बल।

अभ्यसेताम् : यह 'भ्यस्' धातुका रूप है जिसका अर्थ भय और कम्पन है।

सम्पूर्ण मन्त्रका अभिप्राय है कि तुम लोग ऐसे परमेश्वर इन्द्रका विरोध मत करो, उसके प्रति प्रीति करो।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥ 2॥

'जिसने फूटती या बिखरी हुई पृथिवीको पाषाण-खण्डोंसे दृढ़ कर दिया, उसका संवर्द्धन किया और जिसने इधर-उधर दौड़ते-भागते हुए पर्वतोंको नियत करके अपने-अपने स्थानपर स्थिर कर दिया; जिसने विशाल अन्तरिक्षको उत्तम बनाकर स्थापित किया, साथ ही जिसने द्युलोकको स्तम्भित करके आकाशमें निरुद्ध कर दिया, वह इन्द्र है।'

व्यथमान : जैसे शरीरमें व्यथा होनेपर वह फूटने या बिखरने लगता है, वैसे ही पृथिवी व्यथित, स्फुरित या विकीर्ण हो रही थी।

अदृंहत् : 'दृह' और 'दृहि' दोनों धातुएँ वृद्धिके अर्थमें हैं। इकारान्त धातुका रूप अदृंहत् है। उसका अर्थ है—संवर्द्धन करना, दृढ़ करना।

अरम्णात् : यह 'रमु क्रीडायाम्' का ही रूप है। इसमें 'णि' का अर्थ अन्तर्भावित है। व्यत्ययसे 'स्ना' प्रत्यय हुआ।

स्तभ्नात् : यह 'स्तम्भु रोधने' धातुका रूप है। इसका अर्थ है—रोकना, निरुद्ध करना।

इस पूरे मन्त्रमें इन्द्रके विश्वहितकारी रूपका वर्णन है। वह सबके भीतर रहकर सबका हित करता है। **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्।**

यो हत्वाहिमरिणात्सप्तसिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥ 3॥

'जिसने अहि अर्थात् सर्पसदृश वृत्तको मानकर सात सिन्धुओंको प्रवाहित किया है, जिसने बल, असुरके द्वारा निरुद्ध गायोंको मुक्त किया है, जिसने अन्तरिक्षव्यापी मृदु मेघके संघर्षसे विद्युत् उत्पन्न कर दिया और जिसने आयुका भक्षण करनेवाले संग्रामोंमें वीरोंका मारण किया, वह इन्द्र है।'

ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंमें इन्द्र और वृत्रके युद्धका प्रसंग आता है। 'वृत्र' शब्दका अर्थ है—आवरण करनेवाला। वह जलको आवृत्त करता है। उसका एक नाम 'अहि' भी है। इन्द्र इसका संहार करता है। यह वृत्र जलमें दीर्घ निद्रात्मक मृत्युके रूपमें सोता रहता है। यह बहते हुए जलको अपने शरीरकी वृद्धिसे रोक देता है। यह एक ऐसा आवरण है जिससे दुर्भिक्ष और अवर्षण होता है। यही अज्ञानान्धकार भी है। यह सत्के लिए मरण-विवर्त्त, चित्के लिए अज्ञान-विवर्त्त और आनन्दके लिए दुःख-विवर्त है। इसी वृत्ररूप आवरणके कारण संसारमें लोग अपनेको मरणशील, भ्रान्त एवं दुःखी मानते हैं। यह सर्पवत् दुःखदायी है। इसलिए मूलमन्त्रमें इसको 'अहि' कहा गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थोमें वृत्रको आच्छादक, पाप्मा, मेघ, शत्रुसेना, धर्म-ध्वंसी, जलरोधक, कुटिल, अज्ञान, आवरण आदि नामसे स्मरण किया गया है।

सप्तसिन्धु : इसका अर्थ गंगा-यमुना आदि सात नदी करते हैं। भारतीय दृष्टिसे यह ठीक भी है। परन्तु यह काम इन्द्र करता है इसलिए भारतीय दृष्टिसे नहीं, सम्पूर्ण विश्वकी दृष्टिसे होना चाहिए। ऐसी दृष्टिवाले हिन्द, प्रशान्त आदि सात महासागरोंका वर्णन मानते हैं। यदि पौराणिक और वैज्ञानिक दृष्टिसे वेदार्थका उपबृंहण किया जाय तो वातावरणमें व्याप्त

सात रसोंके सात समुद्र इसका अर्थ होना चाहिए। 'सात' शब्दका अर्थ केवल सात संख्या न लेकर 'बहुत' के अर्थमें ग्रहण करना उचित होगा। न केवल जिह्वासे गृहीत होनेवाले रस प्रत्युत पाँचों इन्द्रियोंसे, मनको तदाकारतासे और मनकी शान्तिसे भी अनुभूत होनेवाला रस होना चाहिए। उपाधिके भेदसे एक ही रस अनेक प्रकारसे प्रतीत होता है। कुटिल वृत्रासुर आवरण—रसानुभूतिकाका बाधक है। इन्द्र इनके द्वार खोल देता है। इन्द्र कर्म और पौरुषका देवता है।

अरिणात् : यह पद 'रीङ्' धातुसे बना है। इसका अर्थ है—बहना। क्रयादि। इन्द्रने रसस्त्रोतको प्रवाहित किया।

गाः : संस्कृत भाषाका 'गो' शब्द निरुक्तके अनुसार अनेक अर्थोंका वाचक है। इसके द्वितीया बहुवचनमें 'गाः' शब्द बनता है। सामान्य-रूपसे कहा जाता है कि एक बल नामका असुर था। उसने गायोंको गुहामें निरुद्ध कर रक्खा था। इन्द्रने वहाँसे उन्हें निकाला। थोड़ी गम्भीरतासे देखें तो ज्ञात होगा कि 'बल' शब्दका अर्थ है—शरीर-बल, जन-बल, धन-बल, अधिकार-बल आदि। गायका अर्थ है—भूमि, पशुधन, भोग्य अन्नादिरूप धन। बोलनेका स्वातन्त्र्य भी इसीमें सम्मिलित है; क्योंकि 'गाय' शब्दका अर्थ 'वाणी' भी है। बलवान् असुरोंने इनको रोक रक्खा था, निरुद्ध कर रक्खा है। **अपधा** शब्दका यही अर्थ है। इन्द्रने उनके पंजेसे मुक्त करके इन्हें सर्वसाधारणके लिए सुलभ कर दिया। **उदाजत्** क्रियापदका अर्थ **निरगमयत्** है। इसका अभिप्राय है—निकाल देना या हाँकना।

'बल' शब्दका दूसरा अर्थ है—अनात्मपदार्थसे तादात्म्य करके उसको मैं-मेरा मानना। यही होनेपर अन्तःकरण, इन्द्रिय और विषयोंको अपना मानकर बन्धन होता है। इन्द्र अहंकार—ममकारसे आबद्ध विषयोंसे आत्माको मुक्त करता है—ऐसा समझना चाहिए।

अश्मा : इस शब्दको व्याप्ति-सूचक 'अश्' धातुसे निष्पन्न करके सायणाचार्यने अन्तरिक्षव्यापी मेघ अर्थ किया है। 'अश्मा' शब्दका अर्थ 'पाषाण-खण्ड' भी होता है। मृदु मेघके संघर्षसे बिजली और कठोर पाषाणके

संघर्षसे अग्नि उत्पन्न होता है। यह इन्द्रका ही कोई चमत्कार है। कोमल उपासना और कठोर योगाभ्यास भी ज्ञानाग्निके जन्ममें कारण बनते हैं।

समद् : योद्धा वीरोंकी आयुको जो खा जाय उसे समद् अर्थात् संग्राम कहते हैं। उसका बहुवचन **समत्सु** पद है।

संवृक् : यह हिंसार्थक शब्द है। 'वृणक्ति हिनस्ति' इति वृणक्। इसीमें 'सम्' उपसर्ग लगाकर 'ण' का लोप करके बना है। वेङ्कटनाथने इसका अर्थ 'छेत्ता' किया है। यह 'वृज' और (व्रश्च्) दोनों धातुओंसे बनता है। साधनाकालमें काम-क्रोधादि शत्रुओंका नाश यही करता है।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददयः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥ 4॥

'जिसने यह विश्व नश्वर बनाया है अथवा नश्वर विश्वको दृढ़ बनाया है; जिसने दूसरोंको हानि पहुँचानेवाले लोगोंको नरकमें डाल दिया है, जिसने अपने लक्ष्यको प्राप्त किया है, जिसने शत्रुओंकी समृद्धिको छीन लिया है ठीक वैसे ही, जैसे व्याध अपने इच्छित मृगको पकड़ लेता है, सज्जनो! वही इन्द्र है।'

च्यवना कृतानि : सायणाचार्यने 'नश्वर भुवनोंको स्थिर किया है'—ऐसा अर्थ लिखा है। वेङ्कटनाथने 'भुवनोंको नश्वर बनाया है'—ऐसा अर्थ किया है। ऋग्वेदके एक दूसरे मन्त्रमें आया है—**यास्ता विश्वानि चिच्युषे** (4.30.22) [जिसने सम्पूर्ण विश्वको हिला दिया है] इससे यह सिद्ध होता है कि संसारमें राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

दासं वर्णम् : 'दास' शब्द यहाँ उसी धातुसे बना है जिससे 'दस्यु' बनता है। सायणने इसका अर्थ 'उपक्षपयिता' लिखा है और वेङ्कटनाथने 'वारयिता'। जो दूसरोंके हितको हानि पहुँचाये अथवा किसीकी उन्नतिमें रुकावट डाले। इन्द्र उस पापीको नरकमें डालता है। अधर्मका फल दुःख है। ऋग्वेदमें 'वर्ण' शब्दका अनेक अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। यहाँ आध्यात्मिक दृष्टिसे दासं वर्णम् का अर्थ दुःखदायी अज्ञानान्धकार ही है। उसको गुहामें ढकेल देनेका अर्थ यह है कि इन्द्रने उसको दूर कर दिया।

श्वघ्नी : श्वभिर्हन्ति जो कुत्तोंके द्वारा शिकार करे—व्याधलुब्धक।

जिगीवान् : यह 'जि जये' धातुका रूप है। इसका अर्थ है—जीत लिया।

अर्यः : यह 'अरेः' का वैदिक रूप है।

यंस्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विजइवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥ 5॥

'सज्जनो! इन्द्र वह है, जिसको आँखोंसे न देखकर लोग पूछा करते हैं'—'वह कहाँ है? अरे वह तो बड़ा भंयकर है? इसको न माननेवाले लोग ऐसा कहा करते हैं कि यह इन्द्र सर्वथा है ही नहीं। वह अपने न माननेवालोंके प्रति उद्वेजक-सा बनकर उन शत्रुओंके पोषक धनको सर्वथा नष्ट कर देता है, इसलिए तुम लोग इस इन्द्रके प्रति श्रद्धा करो। वह नहीं दीखता है तो क्या हुआ? उसपर विश्वास करना ही कल्याणकारी है।'

अदृश्य होनेके कारण इन्द्रको न मानना मूर्खता है। उसके सम्बन्धमें जिज्ञासा आवश्यक है। उसपर विश्वास न करनेसे जीवका अकल्याण होता है। अन्तर्से पुष्टि-तुष्टिका मिलना बन्द हो जाता है। ऋग्वेदमें इस प्रकारका एक दूसरा मन्त्र भी मिलता है, जिसमें उल्लेख है कि कोई-कोई कहते हैं कि इन्द्र नहीं है (8.100.3)। 'इन्द्र' शब्दका अर्थ ईश्वर ही है। आस्तिकताके समान नास्तिकता भी अनादि है। नास्तिकके जीवनमें आन्तरिक सुख-शान्तिके लिए कोई आधार नहीं है। आस्तिक ईश्वरका आलम्बन लेकर अपना परम कल्याण करता है।

श्रद् धत्त : श्रद्धा करो, विश्वास करो। वेदोमें श्रद्धाकी बड़ी महिमा है। यह अन्तःकरणकी उत्तम सम्पत्ति है। ऋग्वेदमें एक श्रद्धा-सूक्त है जो इस ग्रन्थमें प्रकाशित है। यजुर्वेदमें कहा गया है कि 'श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है।' जिसको अपने लक्ष्यपर श्रद्धा नहीं होगी, वह उसकी खोज या प्राप्ति नहीं कर सकता। परमार्थ-मार्गमें श्रद्धावित्त ही सम्बल है। उपनिषदें कहती हैं—'**श्रद्धत्स्व सौम्य**।'

:14:

अग्नि-सूक्त

[ऋग्वेद 1-1]

मधुच्छन्दः ऋषि, अग्निदेवता, गायत्रीछन्दः

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ 1॥

'मैं अग्निकी स्तुति करता हूँ। अग्नि ही यज्ञके पुरोहित हैं। वे दानादि गुणोंसे युक्त हैं। वे ही होता =ऋत्विक् हैं। वे ही यज्ञोंके फलरूप रत्नोंके सर्वश्रेष्ठ धाता, दाता और पोषयिता हैं।'

निरुक्तमें अग्निशब्दके अनेकों निर्वचन हैं। अग्निशब्दका मुख्य अर्थ पृथिवीमें स्थित अग्नि है। अग्निशब्दका अर्थ देवता है। अग्नि देवता है, वायु देवता है इत्यादि। अग्नि ही अग्रणीशब्दसे कहा जाता है। यही देवसेनाको प्रगति देता है, आगे ले चलता है—अग्रे नयति। ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीयब्राह्मण आदिमें इसी अर्थमें अग्निशब्दका प्रयोग हुआ है। वाजसनेयिओंका कथन है कि यह देवताओंमें सबसे पहले=अग्रे उत्पन्न हुआ इसलिए इसका नाम अग्नि है।

अग्निहोत्र, इष्टि, पशु, सोम-रूप यज्ञोंमें इसका सबसे पूर्व प्रणयन होता है अतएव इसे अग्नि कहते हैं। पूर्वदिग्वर्ती अहवनीय देशके प्रति गार्हपत्यसे इसका प्रणयन होता है। इस कारण भी इसे अग्नि कहते हैं।

यह स्वयं सन्नमित होकर, स्वयं प्रह्वीभूत होकर अपने अङ्गशरीरको ही काष्ठदाह और हविष्पाकके लिए प्रेरित करता है। यही भी अग्निशब्दका एक प्रवृत्तिनिमित्त है।

स्थौलीष्ठीवि नामक निरुक्तकार अग्नि शब्दका निर्वचन **अक्नोपन** शब्दसे करते हैं। वह क्नोपित अर्थात् स्निग्ध नहीं करता, काष्ठादिको रूक्ष बना देता है। यह अभिप्राय है।

निरुक्तकार शाकपूणि एक अग्निशब्दकी निष्पत्तिके लिए तीन धातुओंका समाहार करते हैं। इनका कहना है कि 'इण्' धातुसे अकार 'अञ्जू' से अथवा 'दह' के दग्धसे गकार और 'णीञ्' से नि लेना चाहिए।

सबका अभिप्राय यह है—यज्ञभूमिमें जाकर अपने अङ्गको दाह या पाकमें प्रेरित करना।

यास्क इसमें एक विशेष देवताकी स्तुति स्वीकार करते हैं। ईडे क्रियापदका अर्थ है—अभिलाषा, याचना अथवा सत्कार। देवता शब्दका अर्थ है—दाता, दीपक, द्योतक या द्युलोकवासी। होताका अर्थ आवाहन करनेवाला या हवन करनेवाला है। पुरोहित शब्दका अर्थ जिसको सम्मुख स्थापित किया जाये पुर एवं दधते। अग्नि पृथिवीस्थान होनेपर भी देवताओंके प्रति हवि वहन करनेके कारण द्युस्थान है। रत्न धन है, रमणीय है। यहाँ 'धा' का अर्थ 'दा' है। यह सब सायणभाष्यका सार है।

लोक व्यवहारमें अग्नि, वायु आदि शब्द पृथक्-पृथक् भूतोंके अर्थमें व्यवहृत होते हैं। अतः जब वेदमें इन शब्दोंका देवताके अर्थमें प्रयोग होता है तब लौकिक मुख्यार्थका परित्याग करके तत्तद् अधिष्ठात्री देवताका ग्रहण किया जाता है। निश्चय ही देवता कोई जड़ धातु नहीं, क्रिया ज्ञान-शक्ति सम्पन्न चेतन है। चेतन होते ही देवता आध्यात्मिक हो जाता है। जब देवताके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपोंको एक कर देते हैं तो उनका समन्वित और सर्वात्मकरूप ईश्वर होता है। त्रैतविनिर्मुक्त शुद्धस्वरूप ब्रह्म है। ऋग्वेदमें वही 'सत्' शब्द से श्रुत है। 'एकं सत्'। वेदविद् विप्र, अग्नि, मित्र, वायु आदिके नामोंसे उसीका बहुधा वर्णन करते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त भूताग्निसे लेकर ब्रह्माग्निपर्यन्त है। ऋत्विक् जिस बुद्धिसे अग्निकी स्तुति करेगा उसी रूपसे देवता आविर्भाव होगा। निरुक्तमें कहा है—**स्तूयमाना हि देवता बलेन बर्धते**=स्तुति करनेपर देवताकी शक्ति अभिव्यक्त होती है। हम उसकी कौन-सी शक्तिका आविर्भाव चाहते हैं। भूत-भौतिक-रासायनिक उपयोगके लिए भूताग्नि, धर्मार्थ और तज्जन्य अपूर्वके लिए देवाग्नि, शमदमादि आध्यात्मिक सम्पदाके लिए आत्माग्नि और सम्पूर्ण अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ब्रह्माग्निकी अभिव्यक्ति अपेक्षित है। अग्निके जिस स्वरूपकी आविर्भूतिके लिए हम इस ऋचाका प्रयोग करेंगे वही आवरण-भंग होकर प्रकट हो जायगा।

1. ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे अग्निकी आराधना अतिशय प्राचीन है।
2. वैज्ञानिक दृष्टिसे अग्नि रत्नोंका जनक है।
3. याज्ञिक दृष्टिसे अग्नि 'अपूर्व' द्वारा दुःखासंभिन्न सुखका जनक है।
4. पुरोहित दृष्टिसे कर्ममें साक्षीके रूपसे 'पुरो निधेय' है।
5. आध्यात्मिक दृष्टिसे दान, तपस्या, ध्यान, नियम आदिके द्वारा शमदमादिका निष्पादक है।
6. देवता-बुद्धिसे आराधित होनेपर मनोरथपूरक है।
7. तत्त्वदृष्टिसे अग्नि ब्रह्म ही है।
8. सात्त्वतदृष्टिसे भगवान्‌की असुरविध्वंसक अनेक लीलाओंका मूलस्त्रोत है।
9. भौगोलिक दृष्टिसे विश्वव्यापी धर्मनिरपेक्ष आराध्य पवित्र वस्तु है।

ऋग्वेदके इस प्रथम अग्निसूत्रमें मधुच्छन्दा ऋषिने जो दिव्य दर्शन किया है वह अचेतन अग्निके निरूपणसे गतार्थ नहीं हो सकता। ज्ञान-निधान वेद भगवान्‌की यह पहली सबको ऋचा सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले, अग्रणी और अग्रेनयशील, सर्वावभासक परमात्मामें ही पर्यवसन्न होती है। देवत्व केवल बाह्य नहीं, सर्वभूतनिगूढ़ है, एक है, साक्षी, चेता और केवल है। वह यज्ञ-कर्मके द्वारा आराध्य है। पथ-प्रदर्शक एवं क्रियारत होता, ऋत्विक् है। यह अग्निको केवल आजान देवता मान लेनेसे सार्थक नहीं हो सकता। अतएव अग्नि शब्दका अर्थ यहाँ ब्रह्माग्नि ही उचित है जिसमें द्वैतसत्ताका भ्रम भस्म हो जाता है।

पुरोहित शब्दका अर्थ भी पुरःके पूर्व कोई संकोचक न होनेके कारण सम्पूर्ण वृत्तियोंके उदयके पूर्व ही विद्यमानताका सूचक है। कारण-बीजमें अंकुरोत्पत्तिके पूर्व या कारणवारिके तरंगायमान होनेसे पूर्व उसकी स्वयंसिद्ध सत्ता होती है और समग्र यज्ञकर्म अथवा सृष्टिकर्म उसीकी अधिष्ठानता में निष्पन्न होते हैं। ऋत्विक् शब्द भी बुद्धिप्रेरक मन्त्रोच्चारक अथवा सविताके, शास्ताका ही बोध कराता है। **ब्रह्मणा हुतं** (गीता)का अर्थ ही यह है कि होता ब्रह्म ही है। रत्नधा शब्द भी सर्वरत्नोंके आकर एवं

फलदाताको ही सूचित करता है। मन्त्रका निष्कर्ष यह है कि यज्ञ कर्मके अधिकरण, पुरोहित, आराध्य, प्रवर्तक और फलदाता अग्नि ही है। इस अग्निके स्वरूपको समझनेके लिए गीताका यह श्लोक बहुत ही उपयोगी है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ गीता 4.24

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति॥ 2॥

'यह अग्निदेव पूर्व एवं उत्तरवर्ती ऋषियोंके द्वारा भी स्तुत्य हैं। वह देवताओंके लिए पूर्णरूपसे उनका यज्ञभाग वहन करें।'

अग्निका स्वरूप अपनी व्याख्यानपरम्पराके अनुसार स्वीकार करना चाहिए। मनुष्यके सभी संस्कार योषाग्निमें हवनसे लेकर चिताग्निमें हवन-पर्यन्त अग्निसे ही सम्पन्न होते हैं। अग्नि जीवनमें संस्कार द्वारा एक उज्ज्वल दीप्तिको निरावरण करता है। वह भौमाग्नि, जठराग्नि, आकराग्नि और दिव्याग्निके रूपमें भी जीवनविज्ञानका श्रेष्ठतम आधार है। धातुशोधन, शरीर-शोधन, कर्मशोधन, अन्तःकरणशोधन और अन्ततोगत्वा अज्ञाननिवारणके द्वारा ज्ञानशोधन भी करता है। शोधन-बोधन दोनों ही कर्म अग्निके हैं अतएव इसका एक नाम ज्ञानाग्नि भी है।

ऋषि शब्दका अर्थ मन्त्र अथवा ज्ञान है। तत्त्वार्थप्रतिपादक मन्त्र अन्तरङ्ग हैं और नामरूपप्रतिपादक मन्त्र बहिरंग है। तत्त्वोन्मुख ज्ञान प्राचीन है और बाह्योन्मुक ज्ञान अर्वाचीन। जैसे आत्मामें स्फुरणमात्र पूर्व ऋषि है और इन्द्रियोंके द्वारा विषयज्ञान नूतन ऋषि। ये सभी वृत्तिज्ञानोंमें अनुस्यूत स्फुरण अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्माग्निकी ही महिमा प्रकट करते हैं। लौकिक व्यवहार यज्ञरूप है। यज्ञ ही उसके मौलिक प्रेरणास्त्रोत हैं। अग्निके द्वारा सम्पाद्य हैं अतः वह तत्त्व है। वैदिक ऋचाओंका अवान्तर तात्पर्य यज्ञकर्ममें है और परमतात्पर्य अग्नि-तत्त्वमें। अग्नितत्त्व मलिनता अथवा द्वैतको सहन नहीं करता, भस्म कर देता है। प्राचीन-अर्वाचीन

दोनों ही प्रकारके ज्ञान, मन्त्र एवं विद्वान् अग्नितत्त्वकी महिमाका गान करते हैं। वही परमार्थ और व्यवहार दोनोंका ही बोधक तथा शोधक है।

सायणने पूर्व ऋषिका अर्थ भृगु, अंगिरा आदि ऋषि किया है और नूतन ऋषिका अर्थ वर्तमानकालीन हमलोग। यह ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे यथाश्रुत रूपमें ठीक है। अपौरुषेयताके दृष्टिकोणसे भृगु, अंगिरा आदि भी तत्त्व ही होते हैं। लौकिक दृष्टिसे उन्हें ऋषिसामान्य कहा जाता है और तात्त्विक दृष्टिसे मन्त्रोपाधिक दर्शनभेदसे एक ही द्रष्टाके अनेक नाम। वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे भी भृगु, अंगिरा आदि भर्जनप्रधानता या अङ्गकी अपेक्षा अङ्गीकी प्रधानतासे भिन्न-भिन्न संज्ञा-लाभ करते हैं। कारणरूपसे परमात्मा पूर्वस्तुत्य है और कार्यरूपसे नूतनस्तुत्य। अधिष्ठानरूपसे पूर्वस्तुत्य, अध्यस्तरूपसे नूतनस्तुत्य। वृत्तिप्रकाशकरूपसे पूर्वस्तुत्य और वृत्तिप्रकाश्यरूपसे नूतनस्तुत्य। इन पूर्व-नूतन विभागोंमें देश-कालका सम्बन्ध जोड़नेकी आवश्यकता नहीं है। देश-काल भी विषय-विषयीविभाग अथवा कार्यकारण-विभागपूर्वक ही होते हैं। इसी दृष्टिसे मन्त्रका अवान्तर तात्पर्य चाहे कुछ भी हो और उसका किसी भी कर्म या देवताकी स्तुतिमें विनियोग-उपयोग हो, परम तात्पर्य परमार्थ ही होता है। यदि अपौरुषेय ज्ञान अपनेसे अभिन्न अपौरुषेय तत्त्वका संकेत न करता हो तो वह पुरुषानुभवके विषय या पुरुष-कल्पनाके विषय प्रत्यक्षानुमानसिद्ध पदार्थोंका ही अनुवादक हो जायेगा। ऐसी स्थितिमें उसकी सिद्ध वस्तु-बोधकता व्याहत हो जायेगी। वह स्वयं सिद्ध है और स्वयंसिद्धि ब्रह्मात्मैक्यका ही प्रकाशक है।

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥ 3॥

'इस व्याख्यात अग्निके द्वारा ही धनकी प्राप्ति होती है। वह धन ऐसा होता है जो प्रतिदिन परिपुष्ट होकर बढ़ता है, कभी क्षीण नहीं होता। वह यशसे युक्त होता है। वीर्य-सामर्थ्य आदिसे युक्त होता है।'

अग्नि धनप्राप्तिका निमित्त है। निरुक्तमें धनके पर्यायोंमें 'रयि' का

पाठ है। धन क्या है? लौकिक सुख-साधनसे लेकर काम-साधन, धर्म-साधन, अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा मोक्ष-साधन सभी धन है। परम्परागत संस्कार भी धन है, प्रेम धन है, ज्ञान भी धन ही है। क्योंकि धारण-पोषणकी योग्यता इन सबमें है। 'दधाति' ही धनका मूल है। पुरुषार्थ सुखका साधन है। नित्यसुख मोक्ष और अनित्यसुख काम दोनों ही इसके साध्य पुरुषार्थ हैं। नित्यसुख धर्मद्वारा, अनित्यसुख भोग-सम्पादन द्वारा। पुरुषार्थ साधन होनेसे ही धनको भी पुरुषार्थ कहते हैं।

यहाँ जिस 'रयि'रूप पुरुषार्थका वर्णन है वह दिन-दिन वर्धमान है। सोमके समान वर्धमान एवं क्षीयमाण उभयात्मक नहीं है अतएव इसका सम्बन्ध सोमसे नहीं अग्निसे है। सोम मनःप्रवृत्ति है और अग्नि तपस् तथा निवृत्ति। निवृत्ति केवल वर्धमान है और अद्वितीयतापर्यन्त उसकी गति है। यही साधन धनकी विशेषता है। **प्रतिक्षणवर्धमानम्।**

दिन-दिनकी वर्धमानता कालका पूरक है। उसीसे काल पूर्ण होता है। यश है—दिग्दिगन्तव्यापी। वह देशका पूरक है। **वीरवत्तमम्**का अर्थ है वस्तुकी वह शक्ति जो अपने निवर्त्यके निवर्तनमें पूर्णतः क्षम हो। पाप, वासना, दुःख, शत्रु विपत्ति, पीड़ा, अज्ञान सभीकी निवृत्तिमें समर्थ होनेके कारण साधन ही वीरवत्तम है। वह अपने लिए अपेक्षित सभी अनुकूलताओंको समेट लेता है।

वेद केवल परमार्थ, परलोक, धर्म या अज्ञेयकी दृष्टिसे ही वस्तुओंका निरूपण नहीं करता। लौकिक प्रयोग, विनियोग और उपयोग भी उसमें निहित होता है। इसमें अग्निके द्वारा रत्नादिरूप धन, सैन्यादिरूप शक्ति, शस्त्रास्त्रादि-रूप बल, पुत्र-पौत्रादिरूप वंशपरम्परा, विश्वव्यापी यश और सामर्थ्यकी प्राप्तिका भी संकेत है। वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे अग्नि-शक्तिके द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। अतएव अग्नि स्तुत्य है।

●

:15 :

वैश्वदेव-सूक्त

[ऋग्वेद मण्डल 10 सूक्त 128]

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्त्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥ 1॥

'अग्निदेव! मेरे संग्रामोंमें, यज्ञोंमें और आन्तरिक दुर्वृत्तियोंके शमनमें तुम्हारे अनुग्रहसे मेरा वर्चस्व स्थापित हो। हम अपने साधनोंसे तुम्हें प्रदीप्त करके तुम्हें परिपुष्ट करें। चारों दिशाएँ अर्थात् उनमें रहनेवाले मेरे सम्मुख नम्र हो जायँ। तुम्हारे स्वामित्वमें हम प्रतिकूलवर्ती वृत्तिरूप शत्रुओं, यज्ञ-विरोधियों और दुर्भावनाओं पर विजय प्राप्त करें।'

'अग्नि' शब्दकी नैरुक्त व्युत्पित्ति एवं अभिप्राय अग्नि-सूक्तमें दिया जा चुका है। यह अग्नि, देवता और परमेश्वरका वाचक है। विहव शब्द संग्राम और यज्ञका बोधक है। यज्ञसे अन्तर्यज्ञ और बहिर्यज्ञ दोनों ही समझने चाहिए।

मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामे अस्मिन्॥ 2॥

'मेरे यज्ञ एवं बाह्य-आन्तर संघर्षमें सभी देवता अर्थात् मरुद्गण, विष्णु एवं अग्नि इन्द्रयुक्त होकर मेरी ही सहायता करें। अन्तरिक्ष मेरे लिए विस्तीर्ण प्रकाशमय हो जाय। साथ ही मेरे लिए मेरी कामनाकी पूर्तिके लिए अनुकूल वायु प्रवाहित हो।'

जैमिनीय ब्राह्मणमें कहा गया है कि इन्द्र जब वृत्रको मारनेके लिए उद्यत हुए, तब उन्होंने मरुतोंसे कहा—'तुम लोग सशस्त्र होकर मेरे चारों ओर क्रीडा करो, जिससे मैं निर्भय होकर इस पापी वृत्रासुरको मारूँ।' वहीं एक दूसरे स्थानपर कहा गया है कि ओज और वीर्य मरुत्का स्वरूप है। अन्यत्र कहा गया कि मरुद्गणने षड्रात्रव्यापी यज्ञका अनुष्ठान किया, इससे

वे ओजिष्ठ, बलिष्ठ एवं वीर्यवत्तम होकर विजयी हुए। काठक-संहितामें कहा गया है कि मरुतोंकी संख्या उनचास है। ऐतरेय-ब्राह्मणमें कहा गया है कि प्राण ही 'मरुत्' है। ताड्य ब्राह्मणमें मरुतोंको 'रश्मि' कहा गया है। तैत्तिरीय संहितामें उन्हें वर्षाका हेतु कहा गया है। 'ये इन्द्रके साथ हमारी सहायता करें'—इसका अभिप्राय यह है कि ये हमारे लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक साधन-कर्ममें सहयोग दें।

विष्णु : काठ-संहितामें विष्णुको सब देवताओंसे उत्तम कहा गया है। माध्यन्दिनीय शतपथ-ब्राह्मणमें दिन और रातके अन्तराल कालको विष्णु कहा गया है। ताड्य-ब्राह्मणमें देवताओंके चरम रूपको 'विष्णु' कहा गया है—**अन्तो विष्णुर्देवतानाम्**। यह लोक विष्णुका 'चक्रपाणि' भी कहा गया है। देवताओंके विजयका हेतु विष्णु ही है। ऋग्वेदमें विष्णुसूक्तमें विष्णुकी स्तुति की गयी है। गोपथ-ब्राह्मणमें विष्णुको 'श्रोत्र' कहा गया है। वह आकाशके समान सबको वेष्टन करते हैं इसलिए विष्णु हैं। तैत्तिरीय-संहितामें विष्णुको 'शिपिविष्ट' कहा गया है। रश्मि या पशुमें विष्ट।

काठक-संहितामें 'उरुगाय' एवं मैत्रायणी-संहितामें 'वामन' शब्दका प्रयोग है। ऐतरेय-ब्राह्मणमें उन्हें 'देवताओंका द्वारपाल' कहा गया है। तैत्तिरीय-आरण्यकमें उन्हें 'हृदय' कहा गया है। ऐतरेयमें सब देवताओंको एवं तैत्तिरीयमें वीर्यको 'विष्णु' कहा गया है। आरण्यक एवं संहिताओंमें ऐसा वर्णन भी मिलता है कि विष्णुने ही अन्तरिक्षको विष्कम्भित एवं पृथिवीको धारण कर रक्खा है। विष्णुने ही अपनेको तीन प्रकारसे स्थापित किया है—पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग। 'यह विष्णु देवता इन्द्रके साथी हों'—इसका अभिप्राय है कि वे हमारे कर्माध्यक्ष इन्द्रकी सहायता करें।

मरुद्गणसे वातावरणकी अनुकूलता, विष्णु विश्वव्यापक दृष्टिसे कर्मानुष्ठान एवं अग्निसे तेजस्विता अभीष्ट है। तेजस्विताका अर्थ है—अन्यसे अभिभूत न होना एवं दूसरोंको अभिभूत कर देना। कर्मकी

सम्पूर्तिके लिए इन सब दृष्टियोंकी अपेक्षा है।

निरुक्तमें मरुत् शब्दकी व्युत्पत्तिके लिए उन्हें 'मितरावी', 'मितरोची' अथवा 'महद्रावी' कहा गया है।

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः।
दैव्या होतारो वनुषन्त पूर्वेऽरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः॥ 3॥

'देवगण! मुझे धन, साधन अथवा आराधनकी प्राप्ति करावें। मेरे अभिलषित फलकी प्राप्ति हो। देवताओं अथवा सद्गुणोंका आवाहन-रूप यज्ञ सदा चलते रहें। देवानुग्रह-भाजन दिव्यगुण-सम्पन्न मेरे होता दूसरोंके ऋत्विजोंसे बढ़-चढ़कर हों और देवताओंकी आराधना करें। हमारे शरीरकी हिंसा न हो सके और हमें शुभ फल अथवा सत्पुत्रकी प्राप्ति हो।'

देवहूति शब्दका अर्थ यज्ञ है। जिसमें देवताओंका आवाहन किया जाता है। यही विवेक-कपिलकी जननी होती है।

मह्यं यजन्तु मम यानि हव्याकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवासो अधि वोचता नः॥ 4॥

'मेरे हविष्यके द्वारा ऋत्विज मेरे लिए देवताओंकी आराधना करें। मेरे मनके संकल्प अर्थात् अभीष्ट प्रार्थना सत्य हों। मैं किसी पापके संस्पर्शमें न जाऊँ अर्थात् पाप न करूँ। सभी देवता हमारे हितके लिए प्रवचन करें।'

विद्वान् लोग मेरी वस्तुओंका प्रयोग मेरे हितके लिए करें। मनोरथ सत्य हों, पाप न हों और सत्संग प्राप्त होता रहे। 'मेरे संकल्प सत्य हों'— इसका एक भाव यह भी है कि मेरे मनमें झूठी-झूठी वस्तुओंकी इच्छाएँ न उठें। सायणाचार्यने अन्तिम चरणका अर्थ ऐसा किया है कि—'हे देवताओं! विवादास्पद वस्तुओंके सम्बन्धमें आप लोग मेरे प्रति पक्षपात करके भाषण करें। इसका अभिप्राय यह है कि देवता अपने भक्तका पक्षपात करता है।'

देवीः षलुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम्।

मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन्॥ 5॥

'हे छः उर्वियो! हमें बहुत-सा धन दो। हे विश्वेदेव! इस विषयमें आप लोग भी अपना विक्रम प्रकट करें, अर्थात् जैसे हमें धन प्राप्त हो वैसे शक्तिशाली प्रयत्न करें। हमारी प्रजा और सन्तान हमें न छोड़े। हमारा शरीर भी हमें न छोड़े—साथ देता रहे। स्वामी! हम कभी शत्रुके वशमें न हों अथवा शत्रु हमें कभी मार न सकें।'

छः उर्वियोंके नाम इस प्रकार हैं—द्युलोक, पृथिवी, अहः (दिन), रात्रि, आप (जल) और ओषधियाँ।

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषामदब्धो गोपाः परि पाहि नस्त्वम्।
प्रत्यञ्चो यन्तु निगुतः पुनस्ते मैं षां चित्तं प्रबुधां वि नेशत्॥ 6॥

'हे अग्निदेव! आप शत्रुओंके क्रोधका तिरस्कार करते हैं और दूसरे किसीके द्वारा तिरस्कृत नहीं होते। आप सर्वदा ही गोपरूप अर्थात् रक्षक हैं। सब ओरसे हमारी रक्षा कीजिये। हमारे शत्रु पीछे लौट जायँ और चीत्कार करते हुए पुनः अपने घरमें भाग जायँ। जब हमारे शत्रु जागने लगें तो उनका ज्ञान-साधन मन एक साथ ही नष्ट हो जाय।'

धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम्।
इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात्॥ 7॥

'जो धाताओंका भी धाता अर्थात् स्रष्टाओंका भी स्रष्टा और जो सम्पूर्ण भुवनका रक्षक है उस त्रिपुवनपति, सर्वभयहारी, शत्रुपराभवकारी देवकी मैं स्तुति कर रहा हूँ। दोनों अश्विनीकुमार, बृहस्पति तथा अन्य देवता इस यज्ञकी रक्षा करें। इसे सफल बनायें । तथा पाप और निरर्थकतासे बचायें।'

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यं सदस्मिन् हवे पुरुहूतः मुरुक्षुः।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृलयेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः॥ 8॥

'आपकी व्याप्ति विस्तीर्ण है और आप महान् एवं पूज्य हैं। बहुत-से यजमान यज्ञोंमें आपका आवाहन करते हैं। आपके बहुत-से निवास-स्थान हैं अथवा बहुत-से लोग आपकी स्तुति करते रहते हैं। आप

परमैश्वर्यशाली इन्द्र देवता हैं और यह आपके आवाहनके लिए ही किया गया है। आप हमें सुखी कीजिये और हे हर्यश्व इन्द्र! हमारी और हमारी प्रजाकी रक्षा कीजिये। हमें दुःख मत दीजिये और हमारा परित्याग मत कीजिये।'

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेतारमधिराजमक्रन्॥ 9॥

'जो हमारे शत्रु हैं वे भाग जायँ अथवा स्थानसे च्युत हो जायँ। पूजित एवं प्रसन्न इन्द्र तथा अग्निके द्वारा अनुगृहीत होकर हम उन्हें अपबाधित कर रहे हैं। वसु, रुद्र, आदित्य देवता मुझे उन्नत पदपर पहुँचायें। साथ ही उद्रिक्त बल, सर्वज्ञ एवं सबका अधिराज बनायें।'

रुद्र : रुद्र देवताका वर्णन वेदोंमें बहुधा आता है। ऋग्वेदके 7.4.13 में स्थिरधन्वा, क्षिप्रेषु, दानादिगुणयुक्त, स्वधावान्, अपराजित, विजयी एवं तीक्ष्णायुध कहा गया है। यजुर्वेदमें इसके प्रतिपादक बहुसंख्यक मन्त्र हैं। तैत्तिरीय-आरण्यकमें प्रभाजमान् एवं वैद्युत रुद्र-रुद्राणियोंका वर्णन है। इनकी संख्या ग्यारह है। वहीं यह भी कहा गया है कि ये धनुष-बाण धारण करते हैं और समग्र विश्व ही इनका रूप है। इस जलीय विश्वपर रुद्रकी अत्यन्त दया रहती है। वहाँ यह भी कहा गया है कि हे रुद्र! तुमसे बढ़कर ओजस्वी और कोई नहीं है—**न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति।** तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें कहा गया है कि रुद्रके आशयसे सूर्यकी उत्पत्ति हुई। वह स्वयं ही अपने भागसे उसको तृप्त करता रहता है। मैत्रायणी-ब्राह्मणमें इसे क्रूरतम देवता कहा गया है।

माध्यन्दिन-शतपथमें यह वर्णन मिलता है कि इस पुरुषके शरीरमें जो दस प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा है—वही 'रुद्र' है। जब यह ग्यारहों इस शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, तब रोदन कराते हैं। इस रोदनके कारण ही इनकी 'रुद्र' संज्ञा है। (9.1.1.8)। जैमिनीय-ब्राह्मणमें इनकी संख्या चौवालीस लिखी है। शतपथसे मिलता-जुलता वर्णन जैमिनीय-ब्राह्मणमें है। षड्विंश-ब्राह्मणमें रुद्रको 'शूलपाणि' कहा गया है। तैत्तिरीय-

आरण्यकमें सर्व 'रुद्र' है, पुरुष 'रुद्र' है—ऐसा कहा गया है; क्योंकि यह वैराग्यका देवता है।

वसु : 'वस्' आच्छादने। विभागावस्थित तीन स्थानोंको आच्छादित करनेके कारण इन्हें 'वसु' कहा जाता है। पृथिवीस्थान, मध्यस्थान एवं द्युस्थान—इनका निवास है। क्रमशः अग्नि, इन्द्र एवं आदित्य रश्मिके रूपमें ये तीनोंमें रहते हैं। वेद इन्हें वसु अर्थात् धनका दाता कहते हैं।

तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें इनकी संख्या आठ बतायी है। ये बड़े सौम्य स्वभावके हैं। माध्यन्दिनीय शतपथ-ब्राह्मणमें कहा गया है कि अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष,आदित्य, द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्र—इनकी संज्ञा 'वसु' है। ये सबको वासित करते हैं इसलिए इनकी संज्ञा वसु है। जैमिनीय-ब्राह्मणमें इनकी संख्या चौबीस है। तैत्तिरीय-संहितामें प्रजा और पशुको भी 'वसु' कहा गया है। काठ-संकलनमें इन्हें 'कल्याणकारी' एवं 'धनप्रद' के नामसे स्मरण किया गया है। प्रजापतिने इनकी सृष्टि की है। इनकी पत्नी गायत्री है। ये अन्तरिक्षमें रहते हैं। धनिष्ठा इनका नक्षत्र है। ब्राह्मण, आरण्यक, संहिता आदिमें इनका प्रभूत वर्णन प्राप्त होता है।

आदित्य : निरुक्तमें जो रसका आदान करता है और ग्रह-नक्षत्र आदिकोकी ज्योतिको अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है उसको 'आदित्य' कहते हैं। यह 'आङ्' पूर्वक 'दा' धातुका रूप है, अथवा भासासे आदीप्त है। इसे अदितिका पुत्र भी कहा गया है। यह 'अदिति' क्या है ? निरुक्तमें इस शब्दका अर्थ 'अदीन' किया गया है—जिसमें दैन्य न हो, वही देवमाता होती है अर्थात् उसका पुत्र देवता होता है। गोपथ-ब्राह्मणमें ऐसा वर्णन मिलता है कि अदितिने पुत्रकी कामनासे ओदन पकाया। यज्ञशेषका प्राशन करनेपर उसने गर्भ धारण किया। उसीसे आदित्य उत्पन्न हुए। काठ-ब्राह्मणमें कहा गया है कि आदित्य देवताओंका प्रिय शरीर है। मैत्रायणी-ब्राह्मणमें 'श्रेष्ठ-रश्मि' के रूपमें स्मरण किया गया है।

तैत्तिरीय-संहिताका कहना है कि यह नित्य नूतन है। भिन्न-भिन्न ब्राह्मणोंमें इसकी संख्या अलग-अलग लिखी है। यही संवत्सरात्मक होकर तपता है। इसके उदयसे राक्षस भाग जाते हैं। यही वृष्टिका हेतु है। यही इन्द्र है और यही सविता है। यह एकाकी विचरण करता है। यह स्वर्णिम है, अग्नि है और कवि है। यह पापोंका नाशन एवं प्राणियोंका प्राण है। यही शुक्र एवं तेजका दाता भी है। यही दिन-रातका कर्त्ता है। इसे स्वर्ग, गोप, धर्म, इन्द्र एवं ब्रह्मचर्यका दाता कहा गया है। यह कान्ति और आरोग्य देता है। यह जड़ और चेतनकी आत्मा है। जब यह अस्त होता है तब यह श्रद्धारूपसे ब्राह्मणमें, दूधके रूपसे पशुओंमें, तेजरूपसे अग्निमें, ऊर्जारूपसे ओषधियोंमें, रसरूपसे जलमें और स्वधारूपसे वनस्पतियोंमें प्रवेश करता है। यह विवेकका देवता है—हंस। यह हृदय और धर्म—दोनों है। चक्षु इसका निवास है। यह अन्धकारको निवृत कर देता है। एक दिनमें ही यह सारी ऋतुओंको प्रकाशित कर देता है। वेदके प्रायः सभी भागोंमें 'आदित्य' का वर्णन मिलता है।

●

: 16 :

प्रजापति-सूक्त

[ऋग्वेद मण्डल 10 अ० 10 सू० 121]

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ 1॥

'प्रपञ्चकी उत्पत्तिसे पूर्व मायाधिपति सिसृक्षु परमात्मासे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति हुई।'

यद्यपि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है तथापि उसकी उपाधि आकाशादि भूतोंकी ब्रह्मसे उत्पत्ति होनेके कारण—उन उत्पन्न भूतोंकी उपाधिसे उपहित होनेके कारण उसे उत्पन्न कहा जाता है।

वह उत्पन्न होते ही एक होनेपर भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आदि सृष्टिका पति—स्वामी हो गया। न केवल पति ही हुआ प्रत्युत उसीने विस्तीर्ण द्युलोक एवं हमलोगोंके द्वारा दृश्यमान इस पुरोवर्तिनी पृथिवीको भी धारण किया।

यहाँ पृथिवी शब्दका अर्थ प्रथनशील विस्तीर्ण है अथवा यह भी अन्तरिक्षका एक नाम है। 'दाधार' क्रिया यद्यपि लोकमें भूतकालिक है, तथापि वेदमें सार्वकालिक है। इसलिए इसका अर्थ है कि धारण किया, धारण कर रहा है और धारण करेगा।

'ऐसे दानादिगुणयुक्त प्रजापति देवताकी हम हविष्यके द्वारा पूजा सेवा कर रहे हैं।'

1. यहाँ किं शब्दका चतुर्थीके एकवचनमें कस्मै शब्द बना हुआ

है। वाणी और मनके द्वारा पूरी तरहसे ज्ञात न होनेके कारण कि शब्दके द्वारा प्रजापतिका वर्णन किया जाता है।

2. 'सृष्ट्यर्थं कामयते इति कः' जो सृष्टिके लिए कामना करे उसे 'क' कहते हैं। यह प्रजापतिका एक नाम है।

3. 'क' माने सुख। सुखरूप होनेके कारण भी प्रजापतिको 'क' कहते हैं।

4. इन्द्र वृत्रासुरके वधके पश्चात् विश्वविजयी हुए। प्रजापतिने उनसे कहा—**मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदाय अहं कः स्याम।** इन्द्रने कहा—**त्वं ब्रवीषि अहं कः स्याम, इति तदेव भव**—तुम अपनेको 'क' कहते हो इसलिए तुम्हारा नाम 'क' ही होवे। इसीसे प्रजापतिका एक नाम 'क' है।

5. मन्त्रके पूर्वार्धमें प्रजापतिको एक कहा गया है। उसीमें-से प्रथम वर्ण 'ए' का लोप करके उत्तरार्धमें उसे 'क' कहा गया।

वेदमें सर्वनाम किं शब्द और यौगिक 'क' शब्द दोनोंसे 'रयय्' प्रत्यय हो जाता है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ 2॥

'वही प्रजापति आत्मशोधन एवं आत्मबोधनके द्वारा सबको आत्म-दान करता है और वही सबको अपने-अपने पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए बलदान भी करता है। सम्पूर्ण विश्व एवं श्रेष्ठ देवता उसके प्रशासन—आज्ञाको शिरोधार्य करके सेवन करते हैं और उस आज्ञाके लिए प्रार्थना भी करते हैं जिससे अमृत अर्थात् अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, वह और स्वयं अमृतत्व भी उसीकी छाया है। मृत्यु भी उसीकी छाया है। ऐसे एक सुखरूप प्रजापति ईश्वरके लिए हम अपना—जीवन-हविष्यका अर्पण करके पूजन कर रहे हैं।'

आत्मदा और **बलदामें** दानार्थक दा धातुका अथवा शोधनार्थक 'दैप्' धातुका प्रयोग है।

प्रशिषं : शासु अनुशिष्टौ=इसमें प्र उपसर्ग आकारका इकार और

दन्त्य सकारका मूर्धन्य षकार व्याकरणके नियमानुसार हो गये हैं।

अमृत : शब्दका भाव प्रधान निर्देश है, अर्थात् अमृतत्व। अमृत माने सुधा जिसमें मृत्यु नहीं है।

मृत्यु : भौतिक, दैविक [यम], आध्यात्मिक—साधनोंका ह्रास-विकास—छाया तत्त्वत: नहीं है—व्यवहारत: प्रतीत होती है। परमात्माके स्वरूपमें वह तुच्छ है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इन्द्रजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ 3॥

'जो प्रजापति अपने माहात्म्यसे अर्थात् अपनी विभुता एवं सामर्थ्यसे श्वासोच्छ्वासशील एवं निमेषोन्मेषयुक्त इस सम्पूर्ण जगत्का एकछत्र-एकमात्र अद्वितीय स्वामी है—जो इस दृश्यमान द्विपद एवं चतुष्पद अर्थात् सभी प्राणियोंका एकमात्र शासक है उस परमानन्दस्वरूप स्वयंप्रकाश प्रजापतिकी—अपनी जीवन-हवि अर्पण करके पूजा करते हैं।'

प्राणतः =श्वासोच्छ्वास करते हुए।

निमिषतः =निमेषोन्मेष करते हुए।

महित्वा =अपने महत्त्वसे। यहाँ तृतीया विभक्तिका ही आकार हो गया है।

बभूव =यह सार्वकालिक क्रिया है।

ईशे =ईष्टे—ईश—ऐश्वर्ये।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ 4॥

'सृष्टिके तत्त्वज्ञ कहते हैं कि वेदप्रसिद्ध पूर्वसिद्ध प्रजापतिकी महिमा है। ये हिमवान् आदि सब पर्वत तथा नदियोंके साथ-साथ समुद्र उसीसे उसीमें सृष्ट होनेके कारण उसीके माहात्म्य, ऐश्वर्य एवं महाभाग्यको प्रकट कर रहे हैं। प्राची आदि दिशाएँ और आग्नेयादि विदिशाएँ उसी प्रजापतिकी भुजाके समान प्रधान नियम्य एवं स्वरूपभूत हैं। उस एक सुखस्वरूप स्वयं प्रकाश परमात्माकी हम अपने हृदयादि सर्वस्वकी हवि अर्पण करके पूजा

करते हैं।'

येन द्योरुग्रा पृथिवी च दृलहा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ 5॥

'जिसने इस ग्रह-नक्षत्रादिसे युक्त विशाल अन्तरिक्षको प्रकट किया है—पृथिवीको स्थिर किया है, स्वर्गको ऊर्ध्वस्थायी स्तब्ध बनाया है और सूर्यको आकाशमें स्थापित कर दिया है। जो अन्तरिक्षमें रहकर सम्पूर्ण कार्य-कारण भावात्मक रजका निर्माण एवं प्रमाण करता रहता है उस परमानन्दस्वरूप स्वयंप्रकाश परमात्माकी हम ब्रह्माण्ड-हविसे पूजा करते हैं।'

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।

यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ 6॥

'प्रजापतिके द्वारा लोकरक्षाके लिए सृष्ट होने एवं स्थिर किये जाने पर द्युलोक एवं पृथिवी स्थिरभावसे उन्हींके सम्बन्धमें विचार करने लगे। 'अहो! हम दोनोंका महत्त्व इन प्रजापतिसे ही है।' इसीसे वे अत्यन्त देदीप्यमान हुए। क्यों न हों इन्हीं प्रजापतिको आधाररूपमें प्राप्त करके सूर्यका उदय हुआ और वे द्युलोक तथा पृथिवीमें प्रकाशित होते रहते हैं। उस प्रजापति देवताके लिए जो स्वयंप्रकाश परमानन्द स्वरूप वाङ्मनसागोचर हैं, हम अपने सर्वविध हवि द्वारा उसकी आराधना करते हैं।'

क्रन्दसी=रोदसी द्यावा पृथिवी।

अवसा=रक्षणेन हेतुना।

तस्तभाने=सृष्टे स्तब्धे लब्धस्थैर्ये।

रेजमाने=राजमाने दीप्यमाने, व्यत्ययसे 'आ' का 'ए'।

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।

ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ 7॥

'कारणवारि—जिन्हें मूलमन्त्रमें आपः कहा गया है, वे सबसे बृहत्—महान् हैं क्योंकि उन्होंने अग्नि, आकाशादि सम्पूर्ण विश्वको सृष्टि

करनेके लिए प्रजापतिको ही अपने गर्भमें धारण किया और सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो गयीं। इसी कारण सम्पूर्ण देवताओंके एवं प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रजापति भलीभाँति प्रकट हुए। ऐसा भी कह सकते हैं कि उन प्रजापतिको ही अपने गर्भमें धारण करके कारणवारिरूप जगन्माता विश्वके रूपमें स्थित हुईं और प्रजापतिसे ही सबके प्राणरूप वायुकी उत्पत्ति हुई। उनके सम्बन्धमें ऐसा भी कहा जा सकता है। कि वे सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त होकर स्थित थीं और उन्हींसे एक अद्वितीय प्राणात्मक प्रजापति प्रकट हुआ। ऐसे जगत्पिता सच्चिदानन्दघन प्रजापति देवताको यह विश्वरूप हविष्य अर्पण करके हम उसकी सेवा कर रहे हैं।'

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ८॥

'इस सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्चरूप यज्ञका निर्माण करनेके लिए जब कारणवारिरूप 'आपो माता' ने प्रपञ्चके रूपमें वृद्धिशील अत्यन्त दक्ष प्रजापतिको अपने गर्भमें धारण किया, तब प्रजापतिने अपनी महिमासे उनके ऊपर पूर्ण दृष्टि डाली, अर्थात् उनके गर्भमें स्थित होकर अपनेको प्रपञ्चरूपसे प्रकट किया। वह देवताओंका भी देवता परमेश्वर है। वह सर्वथा-सर्वदा-सर्वत्र एक अद्वितीय ही रहता है। उसी सर्वकारण-कारण स्वयं-प्रकाश प्रजापतिको परिचर्याके रूपमें हम इस विश्वहविका अर्पण करते हैं।'

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्यायो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा वृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ९॥

'जो पृथिवीका जनक है और जो सम्पूर्ण विश्वको धारण करनेवाला सत्य आधार है, जो अन्तरिक्ष एवं उसमें रहनेवाले लोकोंको जन्म देता है और जो महती आह्लादिनी रसमयी कारण-वारिका उत्पादक है, उस एक सुखस्वरूप रसमूल प्रजापतिको हम अपनी भोगहविकी पूजा अर्पण करते हैं।'

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ 10॥

'हे प्रजापति! तुमसे अन्य ऐसा दूसरा कोई नहीं है, जो इस सम्पूर्ण विश्वके वर्तमान एवं प्रथम विकारभाजन भूतोंमें व्याप्त हो सके, अर्थात् तुम्हीं इन सबको स्वीकार करके निर्मित कर सकते हो। तुम्हीं इनमें व्यापक, इनके कारण एवं इनके ज्ञाता, इनके नियन्ता हो। हमने जिस फलकी कामनासे तुम्हें यह हविर्दान किया है उसका फल हमें प्राप्त हो और हम सम्पूर्ण धनों, साधनों एवं सौभाग्योंके स्वामी बनें।'

●

: 17 :

विश्वकर्म-सूक्त

1.

[ऋग्वेद मं० 10 सूक्त 81]

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥ 1॥

'परमेश्वर ही विश्वकर्मा है। वह प्रलयकालमें सम्पूर्ण विश्वको अपने आपमें उपसंहृत कर लेता है, जैसे अग्निमें आहुति दी गयी हो। वह ऋषि है, अर्थात् अतीन्द्रियका द्रष्टा एवं सर्वज्ञ है। वह होता है, अर्थात् संहाररूप होमका कर्त्ता है। हमारा वह पिता उस समय स्वयं अपने अद्वितीय रूपमें ही स्थिर रहता है। वही हमारी सृष्टि करके भी ज्यों-का-त्यों अद्वितीय ही रहता है। सृष्टि और प्रलयसे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वही बहुत होने एवं अपनेको व्यक्त करनेके संकल्परूप सिसृक्षा (सृष्टि करनेकी इच्छा)से युक्त होकर अपने पूर्वसिद्ध मुख्य निष्प्रपंच पारमार्थिक रूपको आवृत कर लेता है और अपने बनाये हुए प्राणियोंके हृदयप्रदेशमें जीवरूपसे आविष्ट होता है।'

(1) शतपथ ब्राह्मणमें यह प्रसङ्ग आता है—स्वयंभू ब्रह्मने तप किया। उसने ईक्षण किया कि तपस्यासे आनन्त्य नहीं है। इसलिए मैं प्राणियोंमें अपने आत्माका हवन कर दूँ। और प्राणियोंका अपने आपमें हवन कर लूँ, इत्यादि।

(2) निरुक्तमें कहा गया है कि विश्वकर्माने सर्वमेधमें सब भूतोंका हवन कर दिया। उसने अन्ततः अपने-आपका हवन किया गया है कि स्रष्टा और संहर्ता एक ही हैं।

(3) **जुह्वत्** और **पिता** कहकर यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि स्रष्टा और संहर्ता एक ही हैं।

(4) **न्यसीदत्** का अभिप्राय है निष्क्रिय होना।

(5) **आत्मा वा इदमेवाग्रे आसीत्। स देव सौम्य इदमग्रे आसीत्** इत्यादि श्रुतिका अभिप्राय इसमें आ गया है।

(6) **सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय।** इस मन्त्रका अभिप्राय द्वितीय भागमें वर्णित है।

(7) ऋग्वेदमें विश्वकर्माका आदित्यादि अनेक अर्थोंमें वर्णन मिलता है। निरुक्त और सायण भाष्यमें विश्वकर्माकी आध्यात्मिक व्याख्या भी है। यह विश्वकर्मा सबका कर्त्ता परमात्मा ही है। प्रति शरीरमें क्षेत्रज्ञके रूपमें वर्तमान है। उसीकी उपस्थितिसे प्राण परिस्पन्द होता है। प्राण और प्रकाश—दोनों इसीके आश्रित हैं। सब क्रियाएँ और सारे प्रज्ञान भी इसीके आश्रित हैं। इसकी विज्ञानशक्तियाँ सर्वतोमुखी हैं। इसीकी उपस्थितिसे दुष्कृत-सुकृतके फलकी प्राप्ति होती है। यह विषयोंका विधाता, उनसे उत्कृष्ट और इन्द्रियोंको दृष्टि देनेवाला है। जीवके हृदयमें ज्ञान, श्रद्धा, उपासना, भावना आदि भी इसीसे आती हैं। सारी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंके साथ इसीसे आनन्दित रहती हैं। वह इनसे परे है; परन्तु ये उससे पृथक् नहीं हैं, उसीमें लीन हो जाती हैं।

यद्यपि इस मन्त्रका आधिदैविक अर्थ भी है, तथापि आध्यात्मिक अर्थ ही श्रेष्ठ है। श्रुतिमें यह प्रश्नोत्तर मिलता है—'आत्मयाजी श्रेष्ठ है या देवयाजी?' इसका उत्तर है—देवयाजीसे आत्मवित् श्रेष्ठ है—तदाहुरात्मया जी श्रेयान् (उत) देवयाजीति? तथा चैतदेवमधिदैवविद् आत्मविच्छ्रेयान्।

उद्गीथस्वामीने इस मन्त्रकी व्याख्यामें 'विश्वकर्मा' शब्दका अर्थ आदि-शरीरी हिरण्यगर्भ प्रजापति किया है और उन्होंने अपना शरीर परमात्मामें हवन करके उनसे एकत्व प्राप्त किया और फिर दृष्टिका निर्माण किया।

वेङ्कटनाथने अग्निमें हवन अर्थ किया है। ये अग्नि, आदित्य; हिरण्यगर्भ आदि सब परमात्माके ही नाम हैं।

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्माणि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ 2॥

'विश्वद्रष्टा एवं विश्वस्त्रष्टा परमात्माने जब अपनी महिमासे पृथिवीकी सृष्टि की और द्युलोकका विस्तार किया, तब उसका अधिष्ठान क्या था, कुछ भी तो ज्ञात नहीं होता और पृथिवी तथा द्युलोकका

उपादानकारण भी क्या रहा होगा, वह भी तो कुछ ज्ञात नहीं होता। यदि कुछ हो भी तो वह कैसे था?'

परमात्माने प्रलयकालमें जगत्का उपसंहार कर लिया? पश्चात् सृष्टिकी इच्छाका उदय होनेपर सबका निर्माण करके उसमें प्रवेश किया। अब प्रश्न यह है कि अधिष्ठान, उपादान-कारण आदि न होनेसे सृष्टि अनुपपन्न है; क्योंकि लोकव्यवहारमें देखा जाता है कि जब कुम्हार घट बनाना चाहता है तो किसी स्थानमें बैठकर मिट्टीरूप आरम्भण द्रव्यसे और चक्र आदि सामग्रीसे घटका निर्माण करता है। जब ईश्वरने जगदाश्रय द्यावा पृथिवीका उत्पादन किया, तब स्थान क्या था, कुछ नहीं। आरम्भण द्रव्य उपादान क्या था; कुछ भी नहीं। यद्यपि उपादान होना सम्भव है, फिर भी वह कैसे था यहाँ 'कथा' शब्दका प्रयोग 'कायं' शब्दके अर्थमें है। वह सत् था या असत् दोनों ही सम्भव नहीं है। उपादान यदि सत् हो तो अद्वैतभङ्गप्रसङ्ग है, असत् हो तो सदात्मक द्यावा पृथिवीका उपादान नहीं हो सकता। श्रुति कहती है—परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं था।' तब सृष्टि कैसे हुई? सुनिये, इसका उत्तर—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमीं जनयन्देव एकः॥ 3॥

'परमात्माकी दृष्टि सर्वत्र है, उनका मुख सर्वत्र है, उनके बाहु सर्वत्र हैं, उनके चरण सर्वत्र भरपूर हैं। वह अपनी बाहुओंसे द्युलोकको गतिशील करता है। अपने गमनशील चरणोंसे पृथिवीको अस्तित्व देता है। इस प्रकार स्वयंप्रकाश परमेश्वर अद्वितीय रहकर ही बिना किसीकी सहायताके द्युलोक और पृथिवीको उत्पन्न करता है।'

परमात्मा सर्वात्मक है। वह कुम्हार आदिसे विलक्षण होनेके कारण अधिष्ठान एवं उपादानके बिना ही सृष्टिका निर्माण कर सकता है। वह सबका अधिष्ठान है, उसका अधिष्ठान कोई नहीं। दिग्देशाद्यनवच्छिन्नता बतलानेके लिए उसको अधिष्ठान कहा जाता है। उपादान-उपादेय भावके बिना भी सृष्टि बनाता है, इसका अभिप्राय है कि सृष्टि विवर्त है और वह अद्वितीय है। जो कुछ विद्यमानता, प्रकाशरूपता और प्रियता बाधित हो जाती है, वह मिथ्या है। अबाध्यमान प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वय तत्त्व ही सत्य है।

उद्गीथ स्वामी कहते हैं कि परमेश्वर सर्वज्ञ सब एवं सर्वशक्तिमान् है। वह कुम्हार आदिके समान नहीं है, विश्वकर्मा है; अतः वह स्वयं अधिष्ठान है और स्वयं उपादान और सर्व उपायका ज्ञाता भी है। वही, सबका आधार, उपादान होनेपर भी सर्वथा द्वैत रहित है। वेङ्कटनाथने 'एक' का अर्थ असहाय किया है।

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ 4॥

'परमेश्वरसे प्रेरित होकर जगत्-स्रष्टा जिस वनसे जिस वृक्षको लेकर द्यावा, पृथिवीका निर्माण करते हैं, वह वन कौन-सा है और वह महान् वृक्ष भी कौन-सा है? हे मनके स्वामी महात्माओ! तुम अपने जिज्ञासायुक्त मनसे इन दोनोंके सम्बन्धमें अवश्य ही प्रश्न करो। साथ ही ईश्वर इन भुवनोंको धारण करता हुआ जिस अधिष्ठानमें रहता है, उसके सम्बन्धमें भी अवश्य ही जिज्ञासा करो।'

इसके पूर्व मन्त्रमें कहा गया है कि ब्रह्म ही द्यावा, पृथिवीका उगादान कारण और अधिष्ठान है। वही बात इस मन्त्रमें भी प्रश्नोत्तरके बहाने कही गयी है। लोक-व्यवहारमें देखा जाता है कि किसीको प्रौढ़ प्रासाद (मजबूत मकान) का निर्माण करना हो तो किसी बड़े वनमें-से बहुत बड़ा वृक्ष काटकर और गढ़-गढ़कर स्तम्भ आदिका सम्पादन करता है। प्रश्न यह है कि इस भुवन-भवनकी रचना कैसे हुई? इस प्रश्नका उत्तर है कि ब्रह्म ही वन है और ब्रह्म ही वृक्ष है उसीसे इस द्यावा, पृथिवीका तक्षण किया गया; परन्तु इस बातको वे ही समझ सकते हैं जो मनके स्वामी और जिज्ञासु हैं; वस्तुतः ईश्वर ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें विराजमान होकर ही सबका धारण-पोषण करता है।

उद्गीथ भाष्यमें यह बात कही गयी है कि वृक्ष वनका अवयव ही है। उसीसे देवता, प्रतिमा, गृह, भित्ति—सभी वस्तुएँ बनती हैं। वही आधार भी है और आधेय भी; क्योंकि अधिष्ठान है।

वेङ्कटनाथसे इस मन्त्रके भाष्यमें तैत्तिरीय श्रुति उद्धृत की है—**ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्** (2.8.4.6)। केनोपनिषद्में भी ब्रह्मको वन कहा गया है।

●

: 18 :

2.

(ऋग्वेद मंडल 10, सूक्त 82)

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम्॥1॥

'विश्वकर्मा नेत्र आदि समस्त इन्द्रियोंके संघरूप शरीरका पिता है और वही इन्द्रियोंमें प्रकाशका उत्पादक है। वह परम धीर प्रज्ञावान् परिदृष्टकारी है। वह अपने सङ्कल्पसे ही जीवनदायी घृत अर्थात् जलको उत्पन्न करता है। उसके बाद उसी उदकमें इतस्ततः चङ्क्रममाण द्यावा पृथिवीकी सृष्टि करता है। यह दोनों एक-दूसरेके उपकारक हैं और परस्परानुगत हैं। जब द्यावा-पृथिवीके पर्यन्त दृढ़ हो गये अर्थात् विश्वकर्माने उन्हें दृढ़ कर लिया तब वे दोनों स्वच्छन्द विस्तृत हुए अर्थात् अपने-अपने कार्य भूत-धारणादि सामर्थ्यसे युक्त हुए।'

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः॥2॥

'परमात्मा प्राण और प्रकाशसे युक्त होकर विश्वकर्मा बहुकर्मा होता है। वह वस्तुतः विमना—व्याप्तमना अर्थात् सर्वज्ञ है। (यहाँ 'विमना' शब्दका अर्थ 'दीनमना' नहीं, 'सर्वात्मकमना' है।) उसकी महत्ता सर्वोपरि है। वही पाप-पुण्यरूप कर्मका फलदाता, धाता है और साथ ही साथ विधाता भी। अर्थात् वह जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है।

वही परिच्छेदरहित परमा संदृक् है अर्थात् परिच्छेदरहित चिन्मात्र है। अभिप्राय यह कि वह परिणामी नहीं, विवर्त्ती है। विषय-प्रकाशक सप्तर्षि इन्द्रियोंके इष्ट-स्वरूप उसीमें आनन्दित होते हैं। वह इन सात ऋषिरूप इन्द्रियोंसे परे अतीन्द्रिय है। तत्त्ववेत्ता उसीको अद्वितीय कहते हैं।'

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ 3॥

'वही विश्वकर्मा हमारा पालक और उत्पादक है। वही सबका विधाता स्रष्टा और रक्षक भी है। वही हमारे धाम और सम्पूर्ण भुवनोंका ज्ञाता भी है। वही अग्नि, वायु आदि देवताओंका निर्माण करता और नाम रखता है तथा उन-उन पदोंपर स्थापित करता है। वह एक ही है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि वह एक ही अग्नि, वायु आदि देवताओंका नाम धारण करके प्रकट होता है। संसारके सभी प्राणी उसके विषयमें प्रश्न करते हैं कि वह परमेश्वर कौन है?'

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि॥ 4॥

'जैसे स्तुति करनेवाले पुरुष अपने महान् स्तोत्रोंसे परमात्माकी आराधना करते हैं, वैसे ही पूर्वतन महर्षियोंने भी अपने सर्वस्व धनके द्वारा इसी परमात्माका भलीभाँति भजन किया है। इन ऋषियों, इन्द्रियों एवं प्राणियोंने चराचर लोकमें निश्चल रूपसे विराजमान परमात्माकी सम्यक् उपासना, सेवा की है।'

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥ 5॥

'जो द्युलोक और इस पृथिवीसे परे है, जो देवता और असुरोंसे भी परे है, भला वह कौन-सा तत्त्व है; जिसे कारणवारिरूप जलने पहले-पहल अपने गर्भमें धारण किया। सब देवता उसी गर्भमें परमात्माका दर्शन करते हैं। (यह किसी ज्ञानी पुरुषका ही प्रश्न है, जिसका उत्तर अगले मन्त्रमें दिया जा रहा है।)'

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥ 6॥

'कारणवारिने सबसे पहले उसी विश्वकर्माको अपने गर्भमें धारण किया। उसी गर्भमें इन्द्रादि सब देवता सङ्गत रहते हैं। उस अजन्माकी नाभिमें एक अण्ड अर्पित था। इसी अण्डमें सम्पूर्ण प्राणी रहते हैं। इसका दूसरा अर्थ यह है कि अजन्मा परमात्मा स्वसृष्ट जलमें पहलेसे ही विराजमान रहता है और उस सम्पूर्ण जगत्को अपनेमें बाँधनेवाले उदकमें एक ब्रह्माण्डकी स्थापना करता है।'

उद्गीथ स्वामीने जलको जगत्कारण लिखा है। 'देव' शब्दका अर्थ है विषयरूप खिलौनोंसे खेलनेवाले प्राण। 'सब'का अर्थ है लिङ्ग शरीरके सत्रह निमित्त। वे सब कारणवारिमें दूध-पानीके समान एकमें मिले हुए थे।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥ 7॥

'ओ मनुष्यो! जिस विश्वकर्माने इन पदार्थों—प्राणियोंकी सृष्टि की है उसे तुम लोग सर्वथा नहीं जानते। जो तुम लोग ऐसा मानते हो कि 'मैं देवदत्त, मैं यज्ञदत्त' वह सब मिथ्या है। अहं प्रत्ययगम्य जीव विश्वकर्मा परमेश्वरका स्वरूप नहीं है। वह इस जीवरूपसे अतिरिक्त वेदान्तवेद्य तत्त्व है। तुम उसे नहीं जान सकते; क्योंकि तुम नीहार (हिमानी, कुहासा)-सदृश अज्ञानसे आच्छादित हो। जैसे नीहार अत्यन्त असत् नहीं है, दृष्टिका आवरक होनेके कारण भावरूप है और सर्वथा सत्य भी नहीं है; क्योंकि काष्ठ-पाषाणादिके साथ उसको सम्बद्ध नहीं कर सकते; इसी प्रकार अज्ञान भी अत्यन्त असत् नहीं है, तत्त्वावरक होनेके कारण भावरूप है। और केवल ज्ञानमात्रसे निवर्त्य होनेके कारण सत् भी नहीं है। ऐसे अज्ञानसे तुम लोग आच्छन्न हो रहे हो। न केवल आच्छन्न हो रहे हो, प्रत्युत 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इस झूठी कल्पना-जल्पनासे आवृत्त हो रहे हो। और भी; तुम प्राणों, इन्द्रियोंकी तृप्तिमें किसी प्रकार पेट भरनेमें लगे

हुए हो। तुमने परमेश्वर-तत्त्वका विचार नहीं किया। तुम केवल इसी लोकके भोगसे तृप्त नहीं हो। उक्थ अर्थात् प्रशंसा-वचनरूप अर्थवादोंके चक्करमें पड़कर कर्मकाण्डके वशवर्ती हो गये हो। यही कारण है कि तुम परमात्माको नहीं जान सकते।

उद्गीथ स्वामीने इस मन्त्रका अभिप्राय यह बताया है कि ज्ञानी और अज्ञानीमें महान् अन्तर है। अज्ञानी नीहार-सदृश तमोरूप परमार्थ-वस्तु-आच्छादक वेदार्थपरिज्ञानरूप अज्ञानसे आच्छादित है। वह दूसरेको पराजित करनेके लिए शुष्क तर्क-वितर्क करता है। और इन्द्रियोंकी तृप्तिमें लगा हुआ है। वेदार्थके ज्ञाता पुरुष उक्थशासी होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके मूल कारण परमात्माके स्वरूपका निरूपण करनेवाले होते हैं। उसकी सर्वत्र अप्रतिहत गति होती है।

वेङ्कटनाथने कहा है कि वह तुम्हारे अन्तर्हृदयमें ही है, परन्तु तुम उसे पहचानते नहीं हो। लौकिक-अलौकिक वचनोंके चक्करमें पड़कर तुम इन्द्रियोंकी तृप्तिमें लग गये हो और उक्थशंसी अर्थात् आत्मश्लाघी होकर अपने परिच्छिन्न अहंकी महिमा गाते फिरते हो।

●

सर्वमेध-सूक्त

(शुक्ल यजुर्वेद संहिता अध्याय 32)

ॐ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ 1॥

'वही अर्थात् विज्ञानात्मा परमात्मा जो कि सर्वकारण-कारण है कार्यमें ओत-प्रोत होनेके कारण अग्निरूप है। वही वायुरूप है और वही चन्द्रमा भी है। वही शुक्र है वेदरूप और वही ब्रह्म है तत्प्रतिपाद्य। वही जल है और वही प्रजापति है। अत: इन-इन रूपोंमें वही उपासना करने योग्य है।'

पुरुषसूक्तके अनन्तर ये सर्वमेध प्रतिपादक मन्त्र हैं। इन मन्त्रोंके द्रष्टा हैं स्वयंभू ब्रह्म और देवता है आत्मा। सर्व होममें इनका विनियोग है। श्रुति कहती है: **'सर्वं जुहोति'** अर्थात् समग्र कार्य-प्रपंचका कारण-परमात्मामें होम कर देता है। जैसे सूत्र वस्त्रमें ओत-प्रोत होता है अर्थात् सूतका विशेष विन्यास ताना बाना ही वस्त्र है वैसे ही यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच परब्रह्म परमात्माका ही कार्य है। वस्त्रमें सूत्र-दृष्टि, घटमें मृत्तिका-दृष्टि—यही कारणमें कार्यका होम अर्थात् प्रविलापन है। यदि मनुष्यको जल-दृष्टि प्राप्त हो जाय तो मोतीके प्रति राग और ठण्डे बर्फके प्रति द्वेषका उदय नहीं होगा। इसी प्रकार विश्वमें ब्रह्म-दृष्टि करनेसे राग-द्वेष क्षीण हो जाते हैं। यहाँ ब्रह्मका विस्तार सृष्टि है, यह बतलाना अभिप्रेरित नहीं है; क्योंकि इससे उपासना नहीं बनती है। यहाँ यह अभीष्ट है कि कार्यवर्गका कारणमें विलय कर दिया जाय तो उपाधिके विलयनसे उपहितके एकत्वका बोध हो जायगा अर्थात् आत्मा-परमात्माकी एकता निरावरण हो जायगी। उव्वट और महीधर दोनोंने शुक्र शब्दका अर्थ शुक्ल अर्थात् त्रयी-लक्षण ब्रह्म=वेद ही किया है।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रमत्॥ 2॥

'इस पुरुषसे ही काल और उसके सभी निमेष, त्रुटि, कला, काष्ठा आदि विशेष अवयव प्रकट हुए हैं। वह पुरुष स्वयंप्रकाश ज्योतिस्वरूप है। वह सभी वस्तुओंमें उपाधिभेदसे विद्युत्के समान चमचम चमक रहा है। इस सर्वकारण-कारण पुरुषको ऊपर-नीचे, आड़े-टेढ़े, बीचमें कहीं कोई भी ग्रहण नहीं कर सकता; अर्थात् यह प्रत्यक्ष, अनुमान आदिका विषय नहीं है। केवल आगमके द्वारा ही इसके स्वरूपका साक्षात्कार होता है जैसा कि श्रुतिमें कहा गया है—**स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते।** वह परमात्मा ही आत्मा है। नेति-नेतिके द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि वह अगृह्य है, विषय नहीं।'

परिजग्रमत् यह जुहोत्यादिके ग्रह धातुका शत्रन्तरूप है; इसका अर्थ है परिग्रहण।

न तस्य प्रतिमा अस्ति
यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसी-
दित्येषा यस्मन्न जात इत्येषः॥ 3॥

'जिसके प्रसिद्ध एवं महान् यशका वेदान्त-मर्मज्ञ वर्णन करते हैं उसका प्रतिमान दूसरा कोई नहीं है। हिरण्यगर्भादि चार ऋचाओंमें एवं **मा मा हिंसीत्** तथा **यस्मान्न जातः इन्द्रश्च सम्राट्** इत्यादि मन्त्रोंमें इस बातका प्रतिपादन है।'

उव्वटने 'प्रतिमा' शब्दका अर्थ 'प्रतिमान', महीधरने 'उपमान' और सायणने 'तुल्यता' किया है। वाल्मीकिने रामकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि उन्होंने अप्रतिम सुखोंका परित्याग करके वनगमन किया (वा० रा० अयो०)। 'नल रूपमें अप्रतिम थे' यह महाभारतका प्रयोग है। दोनोंमें 'प्रतिमा' शब्दका अर्थ उपमान ही है। ब्रह्मसूत्र (2.3.7) के भाष्यमें आचार्य शंकरने **न तस्य प्रतिमा** इस मन्त्रको उद्धृत करके कहा है कि इसके द्वारा ब्रह्मका उपमान-रहित होना सूचित है। यहाँतक कि ऋग्वेद-भाष्य-भूमिकामें मूर्तिपूजा-विरोधी स्वामी दयानन्दने भी यह स्वीकार किया है कि 'प्रतिमा' शब्दका अर्थ केवल मूर्ति नहीं होता।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इस प्रसंगमें 'प्रतिमा' शब्दका 'मूर्ति' अर्थ करना प्रकरण-विरुद्ध होनेके कारण अयुक्त है। बात यह है कि सम्पूर्ण प्रपञ्चको कार्य होनेके कारण परमेश्वररूप कारणमें विलय करनेके लिए पहलेके दो मन्त्र हैं और पूर्वाध्यायमें उसकी श्री और लक्ष्मीरूप दो पत्नियोंका वर्णन भी आ चुका है। आर्यसमाजके सिद्धान्तानुसार निराकार परमात्मा विश्व-प्रपञ्चका केवल निमित कारण है और वह परमाणुओंसे सृष्टिकी रचना करता है, परन्तु इस प्रसंगमें परमेश्वरको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बताया गया है। इसीसे वह सर्वरूपमें है और सर्वरूपमें उसकी उपासना भी होती है। जब वही सब है और वही सब हुआ है तो सबमें उसकी पूजा करनेका निषेध कैसे हो सकता है अतः यहाँ 'प्रतिमा' शब्द प्रतिमान अर्थात् उपमाका ही वाचक है।

इस मन्त्रमें उत्तरार्धमें जो तीन प्रतीक दिये गये हैं, उन सबमें भगवान्‌की मूर्तिका ही वर्णन है। जैसे, 'हिरण्यगर्भ०' उस मन्त्रमें हविष्यके द्वारा प्रजापतिरूप परमेश्वरकी परिचर्याका निर्देश है।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ 4॥

'यही परमेश्वर सभी दिशा-विदिशाओंमें अर्थात् आड़े-टेढ़े, ऊपर-नीचे, दायें-बायें व्याप्त होकर रह रहा है। सबसे पहले वही प्रकट हुआ है अर्थात् वह अनादि और अनन्त है। वही गर्भके मध्यमें विराजमान है। वही है और वही आगे होगा। वह प्रत्येक पदार्थमें है। मनुष्यो! वह अचिन्त्य शक्ति है और उसीके मुख, नेत्र, हस्त, पद आदि अवयव सर्वत्र हैं।'

गीतामें 'सर्वतः पाणिपादं तत्' और वेदोंमें **त्वं स्त्री त्वं पुमानसि, सहस्त्रशीर्षा पुरुषः** आदिमें इसीका वर्णन है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर सर्वव्यापक, अनादि, अनन्त, भूत, भविष्य, वर्तमान, हुआ, अनहुआ सर्वरूप है। किसीसे राग-द्वेष नहीं करना चाहिए और सबमें ईश्वरभाव करना चाहिए।

यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव
य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराण
स्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥ 5॥

'जिस पुरुषसे पहले कुछ भी उत्पन्न नहीं था। जो सम्पूर्ण भुवनों और प्राणियोंको पूर्णरूपसे भावित करता है। सोलह अवयवोंवाले लिङ्ग शरीरसे युक्त वह प्रजापति पुरुष ही प्रजाके साथ क्रीड़ा करता हुआ सूर्य, चन्द्र और अग्निरूप तीन ज्योतियोंका सेवन करता है।'

पहले मन्त्रमें वर्णन है कि वही परब्रह्म परमात्मा प्रजापति पुरुष है। इस मन्त्रमें कहा गया है कि प्रजापतिसे पूर्व कुछ 'जात' नहीं था। दूसरे मन्त्रोंमें हिरण्यगर्भको ही प्रथम 'जात' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि उत्पन्न सत्य भी पहले विद्यमान अनुत्पन्न सत्य परमात्मासे अभिन्न ही है। अर्थात् जात सत्य पहले अजातमें लीन रहता है जैसे अव्यक्तमें व्यक्त। वह कारण जड़ हो तो प्रकृति कहेंगे और चेतन हो तो परमेश्वर। यहाँ परमेश्वरका वर्णन है। अतः यह भी ध्यान देने योग्य है कि चेतन कारण परिणामी नहीं हो सकता। यदि चेतन परिणामी हो तो परिणामका साक्षी कौन होगा ? उसके एक अंशमें परिणाम मानें तो वह पूर्ण नहीं रहेगा। परिणामीका नित्य होना भी युक्तियुक्त नहीं है। अतः उस चेतनको विवर्ती कारण मानना पड़ेगा। इस प्रसंगसे यह सिद्ध होता है कि अग्नि, आदित्य, प्रजापति आदिके साथ जो परमात्माकी एकताका वर्णन है वह विशेषण विशेष्य भावसे नहीं, प्रत्युत नाम-रूपकी दृष्टिसे बाध-समानाधिकरण्य और चेतन-स्वरूपकी दृष्टिसे मुख्य-सामानाधिकरण्य ही है, अर्थात् व्यक्तिशः होते हुए भी तत्त्वदृष्टिसे वे परमात्मासे अभिन्न ही हैं। विवर्त कहनेका अभिप्राय ही यह है कि परमेश्वर है ज्यों-का-त्यों और दीख रहा है—कारण-कार्यके रूपमें।

ॐ येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा
येन स्वः स्तंभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ 6॥

'जिस पुरुषने द्युलोकको जलवर्षी बनाया है, जिसने पृथिवीको प्राणियोंके धारण, वृष्टिग्रहण तथा अन्न-सम्पादनके लिए दृढ=स्थिर बनाया है, जिसने आदित्यमण्डल और स्वर्गको स्तब्ध करके रखा है एवं जिसने अन्तरिक्षमें जलका निर्माण किया है; उसको छोड़कर और किस देवताकी हम हविष्यके द्वारा पूजा करें? ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि उसी 'क' अर्थात् प्रजापति देवताकी हम आराधना करते हैं।'

हिरण्यगर्भः समवर्तत॰ इस मन्त्रमें हिरण्यगर्भको एक और भूतपति कहा गया है। वही सर्वप्रथम जाता है। उसीके वर्णनमें आये हुए 'एक' शब्दका अंशमात्र 'क' ग्रहण करके उसे **कस्मै** कहा गया है। इसका अर्थ है—**एकस्मै**। वही सम्पूर्ण जगत्के विधि-विधान व्यवस्थाका संचालक एवं संस्थापक है। उसके निदेश और नियन्त्रणमें स्थित विश्व-सृष्टि अपना काम करती है। प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह उसकी आराधना करे। उसके द्वारा निर्मित स्व-स्व-भावमें स्थित हो जानेपर अपने प्रत्येक कर्मसे उसकी आराधना होने लगती है तब समग्र जीवनका उसीमें होम हो जाता है। व्यक्तिका समाजमें, व्यष्टिका समष्टिमें और परिच्छिन्नका पूर्णमें तन्मय हो जाना ही उसकी आराधना है।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने
अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
आपो हयद्बृहतीर्यश्चिदापः॥ 7॥

'क्रन्दसी अर्थात् द्युलोक और पृथिवी नाना प्रकारके अन्न, वृष्टि, धारण आदि उपकारोंके द्वारा हविष्य-सामग्री देकर सम्पूर्ण प्राणियोंका हितसाधन करते हैं और मन-ही-मन सोचते हैं कि इस पुरुषने यह सृष्टि बनाकर बहुत उत्तम कार्य किया है। साथ ही, उस पुरुषका दर्शन करते रहते हैं। उसीके आधारपर यह सूर्य उगता और चमकता है। उस पुरुषको छोड़कर हम हविष्यके द्वारा किस दूसरे देवताकी आराधना करें? इस प्रसंगमें दो मन्त्रोंके जपका संकेत है—**आपो ह यत्बृहतीः** (27.25)

यश्चिदापः (27.26) इसका अर्थ है कि स्वाध्याय, पाठ, जप करनेके लिए ये दो मन्त्र उपयोगी हैं।'

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं
स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ 8॥

'वेन अर्थात् वेद-वेदान्तोंके रहस्यका ज्ञाता विद्वान्। वह परब्रह्म परमात्माका अनुभव करता है। ब्रह्म अन्तर्देशके निभृततम प्रदेशमें स्थित होनेके कारण दुर्ज्ञेय है। वह अबाधित सत् है। उस ब्रह्ममें नाना नाम-रूपात्मक प्रपञ्च एक नीड=एकाश्रय अर्थात् अविभक्त निर्विशेष कारण ही हो जाता है। यह सब संहारके समय उसीमें मिल जाता है। सृष्टिकालमें उसीमें-से प्रकट हो जाता है। वह परमात्मा सभीमें ओतप्रोत है। ताने-बाने दोनोंमें कपड़ा ही तो है, वही कार्य, वही कारण विभु है। तात्पर्य यह है कि वही सब है।'

यह पहले ही कहा जा चुका है कि यह सर्वमेधका प्रसंग ब्रह्मके प्रपञ्चके लिए नहीं है, ब्रह्ममें प्रपञ्चके विलयनके लिए है। यह प्रविलापन है कार्यका कारणमें। कारण जड़ होता है तब उदय-विलय वास्तविक होते हैं। जब कारण चेतन होता है तब उदय-विलय प्रतीत्यात्मक होते हैं। चेतन साक्षी है और उदय-विलय दृश्य। चेतन दृश्याभावका भी अधिष्ठान है इसलिए उसमें दृश्य मिथ्या है। अपने अभावके अधिकरणमें जो वस्तु भासती है वह मिथ्या होती है। चेतन अभाव नहीं है; क्योंकि जैसे अभावका प्रतियोगी घट होता है, वैसे निष्प्रपञ्च ब्रह्मका कोई प्रतियोगी नहीं है। अतः भावाभाव दोनों ही ब्रह्मसे पृथक् नहीं हैं।

जहाँ दो पदार्थोंको एक बताया जाता है। वहाँ वह विभक्तिके ही दो पद होते हैं। उसको वेदान्तकी परिभाषामें समानाधिकरण्य कहते हैं। यह चार प्रकारसे होता है—(1) अध्यास अथवा भ्रम-दशामें; जैसे इदं रजतम् यह चाँदी है। यहाँ 'यह' और 'चाँदीका' एक होना भ्रम है, अध्यास है; क्योंकि 'यह' पदार्थका ज्ञान न होनेपर भी भ्रमसे सीपको चाँदी समझा जा

रहा है। (2) बाध-दशामें जैसे 'ओ मूर्ख! जिसको तू चोर समझ रहा है वह तो स्थाणु अर्थात् ठूँठ है।' इसमें ठूँठको जाननेवाला पुरुष भ्रान्त पुरुषकी बुद्धिमें स्थित मिथ्या चोरका बाध करके उसके स्थाणुत्वका प्रतिपादन करता है। (3) विशेषण-विशेष्य भावकी दृष्टिसे जैसे 'नीला कमल'। नीला विशेषण है, कमल विशेष्य; दोनोंमें समानाधिकरण्य है। इसी प्रकार जीव-जगत् विशेषण हैं, परमात्मा विशेष्य। (4) अभेद-दृष्टिसे जैसे तत्त्वमसि। तत्=ब्रह्म, त्वम्=आत्मा और 'असि' दोनोंकी एकता। जैसे घटाकाश और महाकाश एक ही हैं। इसमें-से पहली दशामें जगत् और परमात्माका भेद नहीं जान पड़ता वह तो अध्यास दशा है और उपासनाकी दृष्टिसे चित्-अचित्, जीव-जगत् विशेषण है और परमात्मा विशेष्य है। विवेककी दशामें प्रपञ्च बाधित है और परमात्मा अबाधित सत्य है। अभेद दृष्टिसे ज्ञाताका जो परमार्थ स्वरूप है वह ब्रह्म ही है अर्थात् ज्ञेयका ब्रह्मके साथ बाध सामानाधिकरण्य है और ज्ञाताके शुद्ध स्वरूपका मुख्य सामानाधिकरण्य। तात्पर्य यह कि 'सब ब्रह्म ही है' यह वाक्य ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—इसी सिद्धान्तका प्रतिपादक है।

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान्गन्धर्वो
धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य
यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥ ९॥

'वेदान्तवेत्ता विद्वान् ही अनायास अमृत ब्रह्मका प्रवचन करनेमें समर्थ है। जो लोग वेदान्त-रहस्यसे अनभिज्ञ हैं उनके लिए वह ब्रह्म मानो किसी निभृत गुहामें निगूढ है। वह सृष्टि, स्थिति, प्रलयके रूपमें नाना आकार-प्रकारके रूपमें भास रहा है। इसके तीन पद गुहामें गुप्त हैं। वे सृष्टि-स्थिति-प्रलय हैं, वेद हैं, काल हैं—भूत-भविष्य-वर्तमान। अथवा परब्रह्म, अन्तर्यामी, अव्याकृत ही तीन पाद हैं। महीधरने अव्याकृतके स्थानपर विज्ञानात्मा कहा है। जो इन तीनों पादोंको जानता है वह पिताका भी पिता है, ब्रह्माका भी पिता है, सबका पिता है अर्थात् ज्ञानी-पुरुष पिताके समान अथवा परमेश्वरके समान परमादरणीय है।'

गाँ वेदवाचं धारयति विचारयति इति गन्धर्वः जो वेदवाणीका धारण अर्थात् विचारण करता है उसे गन्धर्व कहते हैं। वह इस लोकमें रहता है—ऐसा महीधरका अभिप्राय है। उव्वटका कहना है कि गन्धर्वलोक धर्मस्थान है। वहाँ ब्रह्मविद्याका अनायास ज्ञान होता है। गन्धर्व-चर्या एक प्रकारकी नटचर्या है अर्थात् वह एक होता हुआ भी अपनी वेषभूषा, चेष्टा द्वारा अनेक रूप धारण करता है। गन्धर्वमें परिवर्तन नहीं है, विविध वर्तन, विपरीत वर्तन अर्थात् विवर्त है। ब्रह्मज्ञानी वही नाट्य करता है जिससे जिज्ञासु जनोंको बोध हो।

नानात्वमें जो एकत्व है वह गुहामें निगूढ है। अध्यारोपकी प्रक्रियासे जिस अन्नमयादि कोशमें ब्रह्मका निरूपण करके चैतन्य-बोध कराया जाता है फिर उसी कोशका अपवाद करके प्राणमय, मनोमय आदि कोशोंमें स्थापना की जाती है। कोश अलग-अलग हैं, सबमें चेतन एक है परन्तु कोशके अध्यारोपमें इतना आग्रह हो जाता है; क्योंकि उसमें तादात्म्य है, अपवाद कठिन हो जाता है। इस प्रकार जिज्ञासुके लिए प्रत्येक कोश-गुहामें अटक जानेकी सम्भावना बनी रहती है। इससे गुहाके अन्तर्देशमें जो निभृत अन्तरतम आत्म-ब्रह्म है उसका बोध नहीं हो पाता। इन गुहाओंके अपवादमें अपनी पूरी योग्यता और बुद्धि लगा देना चाहिए। श्रवणसे बोध न हो तो मनन-निदिध्यासन अवश्य करना चाहिए।

ब्रह्मज्ञानीको पिता-का-पिता कहकर उसे परमेश्वर अथवा परमादरणीय सूचित किया गया है।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशाता-
स्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ 10॥

'वही परमात्मा हमारा बन्धु और जनक है। वही हमारा धारण, भरण-पोषण करता है। वह सम्पूर्ण प्राणियों और लोकोंका ज्ञाता—सर्वज्ञ है। वह सामान्य, विशेष, बाधित और स्वरूप-रूपसे सबको जानता है। अग्न्यादि देवता उसके तृतीय धाममें स्वच्छन्द विहार करते हैं; क्योंकि

उन्हें परब्रह्म परमात्माका मोक्षप्रापक ज्ञान उपलब्ध है। अभिप्राय यह है कि वे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके वहाँ परमानन्दमें मग्न रहते हैं।'

बन्धु शब्दका अर्थ है—हितकारी और साथ रहनेवाला। **जनिता**=जनयिता अर्थात् अभिन्न-निमित्तोपादान कारण। वह हमारे जीवनके प्रत्येक क्षणमें, कणमें, रग-रगमें, रोम-रोममें और वृत्तियोंके स्फुरण तथा शान्तिमें परिपूर्ण है। वह पल-पल अपनी हितभावना और सत्तासे हमारे जीवनको स्फूर्ति देता रहता है। **विधाता**का अर्थ है—निर्माता अथवा भरण-पोषणकर्त्ता। वह प्रत्येक परिस्थितिमें हमारा शृंगार कर रहा है, सँवार रहा है, सजा रहा है ठीक एक मालीके समान कभी कटाई-छँटाई करके और कभी सिंचाई-निराई और खाद द्वारा। वह प्राणी और लोक, भुवन और धाम सबका ज्ञाता है। सत्ताका ज्ञान है। उसके विशेषका ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। अपने अभावके अधिकरणमें होना उस वस्तुके बाधित होनेका ज्ञान है और परमात्माके अपने स्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, इसलिए स्वरूप-रूपसे सबको जानना ज्ञानकी पराकाष्ठा है।

जिन देवताओं और विद्वानोंने इसको जान लिया है वे अमृत हो गये हैं—**तमेव विद्वान् अमृत इह भवति**। परमात्माका अभेद-ज्ञान अमृतस्वरूप परमात्मासे एक कर देता है। यहाँ मोक्षप्रापक ज्ञानका ही नाम अमृत है। ज्ञानसे किसी वस्तुकी उत्पत्ति या नाश नहीं होता। सिद्ध वस्तु परसे अज्ञानरूप आवरण-भंग हो जाता है और वस्तु ज्यों-की-त्यों रहती है। यही ब्रह्मसे सिद्ध एकताका बोध है। इसके बाद ज्ञानी पुरुषके लिए विधि-निषेध नहीं रहते। कर्मसे उसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं होती। वह स्वच्छन्द हो जाता है, **सर्वथा वर्तमानोऽपि** (गीता)।

ॐ परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्
परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्या-
त्मनात्मानमभि संविवेश॥ 11॥

'सर्वमेधयाजी सम्पूर्ण भूतोंको ब्रह्मरूपसे जान लेता है। वह भूर्भुवः

आदि लोकोंको भी ब्रह्मरूपसे जान लेता है। वह सभी दिशा एवं विदिशाओंको भी ब्रह्मरूसे जान लेता है। इस प्रकार प्रथमजा वेदवाणीके अनुसार सर्वमेध करके वह स्वयं आत्मरूपसे परमात्मामें प्रवेश कर जाता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है।'

इस मन्त्रमें यह बात कही गयी है कि जो 'सबमें मैं हूँ' और 'सब मुझमें है' यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह सर्वमेधयाजी मुक्त हो जाता है। यहाँ किसी विशेष हवनात्मक यज्ञकी प्रधानता नहीं है। यज्ञ तो अग्निहोत्रादि रूप कोई भी हो सकता है। इस प्रसंगमें ज्ञानकी ही प्रधानता है। ब्रह्मज्ञान हो तो सभी यज्ञ सर्वमेध हो जाते हैं। सर्वमेधका अर्थ है सबका कारणमें प्रविलापन करना। और वहाँ उनको कार्यरूपसे न देखना। ब्रह्ममें जो कार्यका अभाव है वह पदार्थ नहीं है; क्योंकि वह अभावका प्रतियोगी होता है जैसे घटाभावका प्रतियोगी घट। ब्रह्ममें वस्तुत: सबका अभाव तो है परन्तु ब्रह्मका प्रतियोगी कोई नहीं है अत: कार्यकारणके अभावसे उपलक्षित है ब्रह्म। वह निरतिशय वृहत् और अबाध्य है। आतामा ही एकमात्र अबाध्य और अद्वितीय सत्ता है। अत: सर्वमेध यागका ज्ञान तत्त्वत: ब्रह्मज्ञानका ही सूचक है।

पुरुषसे प्रथम सृष्टि वेदवाणीकी ही हुई है इसलिए उसको प्रथमजा कहते हैं। उसके द्वारा विहित ऋत अर्थात् यज्ञका अनुष्ठान करनेसे शुद्धान्त:करण यजमान आवरणभंग होनेपर आत्माका स्वत:सिद्ध एकताका साक्षात्कार करता है। यह साक्षात्कार यज्ञ-यागादिके द्वारा उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य और आप्य पदार्थोंके समान नहीं है। यह स्वत:सिद्ध है और सदा अपरोक्ष होनेपर भी अज्ञात होनेके कारण आवृत्त-सा है। यह अज्ञानता मिटानेके लिए ही भगवती श्रुति नाना प्रकारकी युक्तियोंसे शासन और शंसन करती हैं।

परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा
परिलोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥ 12 ॥

'सर्वमेधयाजी पुरुष द्युलोक और पृथिवीलोकको ब्रह्मरूपसे देख लेता है। वह सभी लोकों, दिशाओं और स्वर्लोकगत आदित्यादिको भी ब्रह्मरूपसे देख लेता है। इसके बाद वह विस्तृत यज्ञ-परम्पराको परिसमाप्त कर देता है। तब तत्काल ही अपने स्वरूपका साक्षात्कार करता है और साक्षात्कार करते ही वही हो जाता है; क्योंकि वह पहलेसे ही वही अर्थात् ब्रह्म ही था।'

ब्रह्मज्ञान हो जानेपर कर्मकाण्डकी आवश्यकता नहीं रहती। उपनिषदोंमें कहा है कि जैसे ईंट-पत्थरसे बनाये हुए भवन ढह जाते हैं वैसे ही कर्म-निर्मित लोक भी नष्ट हो जाते हैं। अत: स्वभावसिद्ध स्वरूप वस्तुकी उपलब्धि कर्मसे नहीं होती। कृत्रिमसे अकृत्रिमकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव धर्माचार्य मनुने भी वेदोक्त कर्मका परित्याग करके उपनिषदोंके अभ्यास, शमदमादि सद्गुण एवं आत्मचिन्तनकी महिमाका सविशेष वर्णन किया है—**यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय।** कर्मविक्षेपसे आत्मचिन्तनमें बाधा पड़ती है। परन्तु सर्वमेधयाग ऐसा है ज्ञानात्मक कि आत्मज्ञानमें साधक है, बाधक नहीं। अतएव यज्ञमें स्थित यजमान भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।

ब्रह्मको जानना और ब्रह्म होना—यह दो अवस्था नहीं है। ज्ञान कारण हो और ब्रह्म होना कार्य—ऐसा मानना असंगत है। यहाँ ब्रह्मदर्शन ही ब्रह्मभवन है; क्योंकि आत्माका ब्रह्म होना स्वत:सिद्ध है। केवल ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्तिमात्र अपेक्षित है। निवृत्ति कोई वस्तु नहीं है। अज्ञाननिवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही ब्रह्म है और उसमें बन्ध-मुक्तिकी कल्पना भी अविद्यामूलक ही है। अतएव मन्त्रका चतुर्थांश स्पष्ट कहता है—उसे जाना, वही हो गया, क्योंकि वही था। श्रुतिने कहा है—**तदेव सन्तस्तदु तद्भवाम:, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।**

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनि मेधामयासिषं स्वाहा॥ 13॥

'यज्ञशालाके अधिपति, अचिन्त्य शक्ति, इन्द्रके प्यारे मित्र अग्नि-देवतासे हम धन और मेधाकी याचना करते हैं; क्योंकि जिन्हें धन और

मेधाकी आवश्यकता है, उनके वाञ्छनीय उदार दाता अग्निदेवता ही हैं। हम उनके लिए हवन करते हैं।'

सकाम यज्ञसे कामनाकी पूर्ति होती है और निष्काम यज्ञसे अन्तःकरणकी शुद्धि। अन्तःकरणकी शुद्धि निष्कामताकी परिपक्वता ही है। अतः निष्काम भावसे यज्ञ करनेपर वह परिपक्व हो जाती है। निष्कामता वैराग्यकी पराकाष्ठा है। परन्तु अन्तःकरण-शुद्धिमें एक और भी विशेष बात है। वह है संसारसे छूटकर शुद्ध वस्तु परमात्माका चिन्तन और उसकी प्राप्तिकी इच्छा। अतः न केवल शमदमादि प्रत्युत मुमुक्षा भी अन्तःकरण शुद्धिका साधन है।

यज्ञ-सम्पादनके लिए धन और मेधा दोनों ही अपेक्षित हैं। अतः अग्निदेवतासे दोनोंकी प्रार्थना की जाती है। धनसे अपना जीवन-निर्वाह और दूसरोंका भरण-पोषण होता है। दानकी वृत्ति त्यागकी पूर्व भूमिका है। दानमें अपने स्वत्वका त्याग और दूसरेके स्वत्वका उत्पादन है। त्यागमें निज स्वत्वका परित्याग तो है, परन्तु पर-स्वत्वका उत्पादन नहीं है। दानमें द्रव्यका मूल्यांकन है, परन्तु त्यागमें नहीं है। त्यागवृत्तिसे बाह्य वस्तुमें उपेक्षा, तुच्छता, समता और संघर्षाभाव है। अतः आत्मचिन्तनमें यह विशेष उपयोगी है। यज्ञमें दान होता है, नियमकी दृढ़तासे संयम आता है और संसारकी ओरसे वृत्ति मुड़ती है।

मेधा धारणावती बुद्धिका नाम है। बुद्धि जब किसी वस्तुके समझनेमें संलग्न हो तो उसको पूरी तरह समझे बिना बीचमें ही छोड़ न दे। पूरी तरह धारणासे तदाकार होकर विषयावच्छिन्न चैतन्यसे एकताका अनुभव कर ले। मेधामें दो अंश हैं—विवेक और धारणा। विवेकके भी दो अंश हैं—उचित-अनुचित एवं सत्-असत्का पृथक्करण। पृथक्कृत उचित और सत्‌में स्थिर होना ही धारणा है। मेधाका अर्थ है अपने समझे हुए सत्यमें स्थिरता। यही दोनों यज्ञको लोक-परलोक हितकारी एवं परमार्थ-शोधनका साधन बनाते हैं। अतः अग्निस्वरूप परमात्मासे इन्हीं दोनोंकी प्रार्थना की गयी है।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
या मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ 14॥

'हे अग्निदेव! देवगण और पितृगण जिस मेधाका समादर करते हैं और अपने हृदयमें धारण करते हैं, आज आप उसी मेधासे मुझे मेधावी कर दीजिए। मैं आपके लिए हवन करता हूँ।'

पूर्व मन्त्रमें धन और मेधा दोनोंकी प्रार्थना की गयी है परन्तु इस मन्त्रमें केवल मेधाकी ही प्रार्थना की गयी है। इसका अभिप्राय है कि धन स्व-पर जीवनके निर्वाहका बाह्य साधन है। मेधाके बिना धन निष्प्रयोजन है। धनका विनियोग मेधा-जननमें होना चाहिए। कर्म-मेधामें वस्तु-विज्ञान और अनुष्ठान दोनों अपेक्षित हैं। इसके लिए दृढ़ धारणा चाहिए। परमार्थ-मेधामें ज्ञान और अनुष्ठान पृथक्-पृथक् नहीं रहते। कोई ज्ञानी परमार्थमें ही लीन हो सकता है और कोई व्यवहारमें, क्योंकि ज्ञानदृष्टिसे दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है।

यहाँ मेधाके एक विशेष रूपकी प्रार्थना है। वह है— देवगण और पितृगणके द्वारा समादृत मेधा। पितरोंके द्वारा समादृत बुद्धि परम्परागत संस्कृति, धर्ममर्यादाकी रक्षा और संवर्द्धन करनेवाली होती है। देवगणोंके द्वारा समादृत बुद्धि हमारे मन और इन्द्रियोंको समर्थ बनाती है और वर्तमान तथा भविष्यके निर्माणमें सहायक होती है। ऋषिगणोंके द्वारा समादृत बुद्धि जड़ और चेतनके ज्ञानमें अर्थात् वस्तु-विज्ञानमें सहायक होती है। ईश्वरकी बुद्धिसे अपनी बुद्धि मिला देनेपर शरणागति और निश्चिन्तता आती है। ब्रह्मदृष्टिसे स्वदृष्टिका मिलन होनेपर जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका भोग होता है। इस दृष्टिसे जीवनदशा और मरणोत्तर दशामें कोई भेद नहीं रहता। परमात्मा ही परमात्मा रहता है।

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा॥ 15॥

'वरुण देवता मुझे मेधाका दान करें। अग्नि और प्रजापति भी मुझे मेधा दें। इन्द्र तथा वायु भी मुझे मेधा प्रदान करें। धाता मुझे मेधा दान करें। मैं उनके लिए हवन कर रहा हूँ।'

शरीरके भीतर अध्यात्म-जगत् होता है। संस्कृतभाषामें 'अध्यात्म' शब्दका अर्थ ही है शरीरमें। **आत्मनि इति अध्यात्मम्** इन्द्रिय, मन आदि

अध्यात्म हैं। जिन विषयोंको ये ग्रहण करते हैं, उनको अधिभूत कहा जाता है। अध्यात्म और अधिभूतका सम्बन्ध जोड़नेके लिए एक तीसरी शक्ति होती है जिसे अधिदैवत कहते हैं। जैसे नेत्र अध्यात्म है, रूप अधिभूत है और सूर्य अधिदैव है। सूर्यका प्रकाश किसी-न-किसी रूपमें नेत्र द्वारा रूपदर्शनमें सहायक होता है। नेत्रोंसे दीखनेवाला सूर्यमण्डल अधिभूत है परन्तु उसमें रहनेवाला आजान देवता चेतन है। जैसे चित्र लेनेपर शरीरका तो चित्र आता है परन्तु उसमें विराजमान चेतनका चित्र नहीं आता, वैसे ही सूर्यका आधिभौतिक मण्डल तो देखा जाता है, परन्तु उसके अन्तरालमें विद्यमान आधिदैविक रूप नहीं। वस्तुत: जैसे नेत्रमें बैठकर चेतन देखता है। वैसे ही रूपमें बैठकर वह दीखता है और सूर्यमें बैठकर दिखाता है। नेत्र, रूप और सूर्य पृथक्-पृथक् हैं परन्तु चेतना एक ही है। भेद केवल उपाधिमें ही है, तत्त्वमें नहीं। ठीक इसीप्रकार सभी वस्तुओंमें एक देवताकी उपस्थिति रहती है। उसकी उपासना करनेसे अध्यात्मकी शक्ति बढ़ती है और अधिभूतके अन्तरमें निहित शक्तियोंका विज्ञान होता है। अध्यात्ममें प्रकाश है, विषयमें प्रकाश है और देवतामें प्रकाश है। प्रकाश ही प्रकाशको बल देता है। वैसे ही रसनाके देवता वरुण हैं, वक्के देवता अग्नि हैं। इनसे मेधाकी प्रार्थना करनेसे मेधा बढ़ती है और वह यज्ञमें संलग्न हो जाती है।

यदि लौकिक दृष्टिसे विचार करें तो सभी देवता स्वभावसे ही यज्ञमें संलग्न हैं। जैसे सूर्य प्रकाशका दान कर रहे हैं, अग्नि उष्णताका दान कर रहे हैं, वायु प्राणका दान कर रहे हैं, अधिदैवका सम्पूर्ण बल, सम्पदा लोकहितमें ही लगती है। जब हम उन देवताओंकी उपासना करते हैं तो हमारे जीवनमें उनके गुणोंका विकास होता है, धातामें पालन-पोषण है। इन्द्रमें ऐश्वर्य है। प्रजापतिमें लोकप्रियता है। वायुमें जीवन है। अग्निमें दुष्प्रधर्षता है। वरुणमें रसदान है। इन सब गुणोंका विकास मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनमें यज्ञके द्वारा होता है। क्योंकि ये सभी देवता यज्ञ कर रहे हैं, इसलिए हमें भी यज्ञ करना चाहिए और विवेक तथा उदारताके साथ अपनी विशेषताको सबके हितके लिए विनियुक्त करना चाहिए।

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥ 16॥

'ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों मेरी लक्ष्मी अर्थात् धन-सम्पदाका आश्रय लेकर जीवन धारण करें। देवता मेरे जीवनमें उत्तम लक्ष्मीकी स्थापना करें। हे लक्ष्मीदेवी! सभी आपको चाहते हैं। अत: मैं आपके लिए हवन कर रहा हूँ।'

ब्राह्मण प्रज्ञाशक्ति-प्रधान है और क्षत्रिय प्राणशक्ति-प्रधान, अर्थात् दोनों क्रमश: ज्ञान और बलके आश्रय हैं। ब्राह्मण-प्रज्ञाके बिना क्षत्रियबलका सदुपयोग नहीं होता और क्षत्रिय-बलके बिना ब्राह्मण-प्रज्ञाकी प्रतिष्ठा नहीं होती। प्रज्ञावान् और बलवान् पुरुष जिसके हितकारी और सहायक होते हैं वही लोक-परलोकमें वृद्धि-समृद्धि प्राप्त करता है और अन्तत: परमार्थ-ज्ञानका अधिकारी भी होता है। जैसे विजय प्राप्त करनेके लिए बुद्धि और बल दोनोंकी आवश्यकता होती है वैसे ही जीवनके संघर्षमें बुद्धिमान् मन्त्री और बलवान् सैनिककी अपेक्षा होती है।

एक साधकके जीवनमें प्रज्ञाकी प्राप्तिके लिए सत्संग और स्वाध्याय चाहिए। बलकी प्राप्तिके लिए ईश्वर-विश्वास, संयम, धैर्य, दृढ़निष्ठा आदिकी आवश्यकता होती है। ये प्रार्थित देवता हमें ऐसी प्रज्ञा और बल दें जो कभी हमारा साथ न छोड़ें। लौकिक दृष्टिसे सुखपूर्वक जीवनयापन करनेके लिए और दूसरोंकी भलाई करनेके लिए भी मेधा, बल और श्रीकी आवश्यकता होती है। इनके बिना यज्ञ भी सम्पन्न नहीं हो सकता।

लौकिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे इनका सम्पादन करके फिर सर्व-मेधमें इनकी आहुति दी जाती है। तब कारणमें कार्यका लय करनेपर प्रज्ञा, प्राण और श्रीकी भी आवश्यकता नहीं रहती और जब इनका सम्बन्ध भी छूट जाता है तब जन्म-मरणका भय भी निवृत्त हो जाता है। उपनिषद्में यही बात **यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च०** इस मन्त्रमें कही गयी है। परमार्थ-ज्ञानसे इनका बाध हो जाता है और जीवनकालमें ही जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख प्राप्त होता है।

●

: 20 :

मधु-सूक्त

ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त 9

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ 1 ॥

'जो मनुष्य यज्ञ करना, सत्यपरायण होना, अपने हृदयको सरस बनाना अथवा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए वायु मधु-क्षरण करते हैं। नदी और समुद्र उसके लिए मधुर रससे युक्त होकर प्रवाहित होने लगते हैं। उसके लिए सब ओषधियाँ माधुर्य-गुणसे युक्त हो जाती हैं। हमारे लिए भी वे सब उसी प्रकार मधुर हो जायँ।'

ऋत : निरुक्तमें 'ऋत' शब्दके पर्यायवाची नाम यज्ञ, जल, सत्य दिये हैं। वेदोक्त सत्यके लिए इस शब्दका प्रयोग होता है। वेदोक्त सत्य है, धर्म और ब्रह्म। ऋत चाहनेवालेको 'ऋतायन' कहते हैं (क्यच्शतृ)। उससे चतुर्थी विभक्तिमें 'ऋतायते' शब्द बनता है। यज्ञ और सत्यभाषण दोनों अर्थ धर्मकी दृष्टिसे हैं। जलके अर्थमें रस विशेषको द्योतित करनेके कारण 'भक्ति चाहनेवाला रसीला' यह भी इसका अर्थ हो जाताहै। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे ऋत है, अबाधित सत्य ब्रह्म।

मधु : 'मधु' शब्दका प्रयोग वेदोंमें बार-बार आता है। यह शुभ कर्मोंके फल सुखके अर्थमें होता है। बृहदारण्यक उपनिषद्के द्वितीय अध्यायके पाँचवें ब्राह्मणका नाम 'मधु-ब्राह्मण' है। उसमें 'सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए पृथिवी मधु है और पृथिवीके लिए प्राणी मधु है' इस प्रकार वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'पृथिवी और प्राणी दोनोंमें जो आत्मा है, वही अमृत है, ब्रह्म है। वही मधु है।' इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म, मनुष्यजाति,

आत्मा—इन सबका भी वर्णन है। सबका एक-सा ही वर्णन करके सबके अन्तमें यह वाक्य कहा गया है: 'यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सब कुछ है।' अन्तमें यह भी कहा गया है कि 'इस आत्मामें ही रथ नाभि और रथ-नेमिमें अरेके समान सब भूत, देवता, लोक, प्राण एवं प्राणी अर्पित हैं,अर्थात् इसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है।' 'मधु' पदार्थके विशेष अनुसन्धानार्थ पूर्वोक्त ब्राह्मण द्रष्टव्य है।

ओषधि : 'ओष' का अर्थ है जिसमें पाकका आधान हो वह। वृक्ष तो बार-बार फल देते हैं, पर ओषधि एक बार फल देकर सूख जाती है। जैसे : जौ आदि। **ओषति दोषान्, धत्ते गुणान् इति ओषधिः**—जो दोष मिटाये और गुणोंका आधान करे वह ओषधि है, यह 'ओषधि' शब्दकी व्युत्पत्ति है।

इस मन्त्रकी व्याख्यामें वेङ्कटनाथने दो श्लोक लिखे हैं। उनका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य सत्यकी इच्छा करता है, उसे वायु, सिन्धु आदि मधु-दान करते हैं अर्थात् सत्यके स्वरूपका बोध कराते हैं। वस्तुतः सत्य सूर्यके समान प्रकाशमान, स्वयंज्योति है। उसकी इच्छामात्रसे इसी जीवनमें सिद्धि मिलती है। मक्षिका पुष्पोंसे मधु-संहरण करती हैं। उन्हें परिश्रम होता है, पर सत्यके जिज्ञासु और ज्ञाताको सम्पूर्ण विश्व ही मधु-रसकी वर्षा करता है।

मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः।
मधुद्यौरस्तु नः पिता॥ 2॥

'हमारे लिए रात्रियाँ मधुमती हों। ऊषा और दिवस भी मधुर हों। यह पृथिवी-लोक और पृथिवीके प्राणी मधुर-मधुर हों। पृथिवीका एक-एक कण मधुमय हो जाय। हमारा पिता द्युलोक भी मधुमय हो।'

मधु : स्कन्दस्वामीने 'मधु' शब्दका अर्थ प्रीतिकर लिखा है अर्थात् सभी समय हमारे लिए आनन्ददायी हों। द्युलोकको पिता कहनेका उन्होंने एक विशिष्ट अभिप्राय बताया है। वे कहते हैं कि विवाहके समय वर कन्यासे कहता है कि मैं द्युलोक हूँ और तुम पृथिवी हो : **द्यौरहं पृथिवी त्वम्**

(तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.7.1)। तदनुसार द्युलोक वर है और पृथिवी है कन्या। पृथिवी हमारी माता है और द्यु हमारा पिता; क्योंकि कन्या-वरके संयोगसे ही सबकी उत्पत्ति होती है। मुद्गलीय वृत्तिमें कहा गया है कि द्युलोक पिता इसलिए है कि वह वर्षा आदि द्वारा पालन करता है। पालक ही पिता होता है। वह हमारे लिए मधुवर्षी बने।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ 3॥

'हमारे लिए एक-एक वनस्पति मधुर हो जायँ। सूर्य मधुर हो और गायें भी मधुर हों।'

मधु शब्दका अर्थ पुष्परस, मधुर, आसव आदि तो है ही, ज्ञान भी है। 'मन्' ज्ञाने धातुसे मधु शब्द बनता है: **मन्यते इति मधु**। अभिप्राय यह कि हमारे लिए सब ज्ञानात्मक ब्रह्म हो जायँ।

वनस्पति : यहाँ वनस्पति शब्दका अर्थ है वनोंका पति वृक्ष। यज्ञमें इसीसे स्तम्भ बनता है, इसलिए यह देवतारूप है। यह भक्तोंके लिए भजनका स्थान है तो विरक्तोंके लिए विक्षेपरहित शान्त स्थान। यह प्रपञ्च अश्वत्थवृक्ष है। ब्रह्माश्वत्थ और कर्माश्वत्थ। स्कन्दस्वामीने वनस्पति शब्दका अर्थ 'चन्द्रमा' लिखा है।

सूर्य : यज्ञका सविता, भक्तका नारायण-निवास और ज्ञानीका आत्मा—**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।**

गायें अर्थात् यज्ञके लिए हविष्य देनेवाली धेनुएँ मधुर दूधसे युक्त हों। 'गौ' पदका अर्थ इन्द्रिय वृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ भी है। सूर्य बुद्धि, चन्द्रमा मन और गायें=इन्द्रियाँ—ये तीनों मधुमय हों।

ये तीनों मन्त्र ऋग्वेद प्रथम मण्डल 91वें सूक्तमें हैं। शुक्ल यजुर्वेद-संहिताके 13वें अध्यायमें भी आते हैं। उव्वटने लिखा है कि सर्वत्र मधु शब्दका अर्थ 'मधुयुक्त' ही है। द्युलोकको पिता और पृथिवीको माता उव्वट और महीधर, दोनोंने लिखा है। उव्वटने 'मधु' शब्दकी व्याख्या करते हुए **रसा वै मधु** यह श्रुति उद्धृत की है। ज्ञान मधु है, रस मधु है। सारी

वस्तुएँ, दिशाएँ, समय, जाति और व्यक्ति तत्त्वज्ञानीके लिए सुखकर हो जाती हैं।

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥

दिनका अधिष्ठातृ देवता मित्र हमारे लिए सुख-शान्तिका निधान बने। उपद्रवोंको शान्त करे और मैत्री-दृष्टि जाग्रत् रखे। रात्रिका अधिष्ठातृ देवता वरुण हमारी रात्रियोंको सुख-शान्तिमयी, रसमयी बनाये। दिन और रात्रिका विभाजन करनेवाला सूर्यदेवता हमारे लिए सुखकारी हो। बृहद् देवताओंका रक्षक इन्द्र हमारे लिए सुख शान्तिका हेतु बने। जिनके पाद-विन्यास अत्यन्त विशाल हैं, वे विष्णु हमारे लिए सुख-शान्तिके कारण बनें।

सायणने 'उरुक्रम' शब्दसे वामनावतारका ग्रहण किया है। उन्होंने त्रिविक्रमरूप धारण करके तीन पगोंमें तीनों लोक नाप लिये थे। स्कन्दस्वामी और मुद्गलका भी यही अभिप्राय है।

निरुक्तमें 'मित्र' शब्दके अनेक अर्थ दिये हैं; जो मीति अर्थात् मृत्युसे त्राण करे, वह 'मित्र'। जो वृष्टि करता हुआ अन्तरिक्षमें दौड़े वह 'मित्र' (डुमिञ् प्रक्षेपणे अथवा मिषि सेचने)। अथवा स्नेहनार्थक 'ञिमिदा स्नेहने' धातुसे 'मित्र' शब्द बना है। 'वरुण' शब्द 'वृञ् वरणे' धातुसे बना है, जो मेघमालाको, आकाशको आवृत कर दे।

'अर्यमा' शब्दका अर्थ है मित्र और वरुणका स्वामी। इन्द्र कर्मका स्वामी।

हमारे जीवनमें मित्र-शब्दोपलक्षित प्रकाश-विवेक, वरुण-शब्दो-पलक्षित रस प्रेम, अर्यमा-शब्दोपलक्षित समाधि-योग, इन्द्र-शब्दोपलक्षित धर्मानुष्ठान और विष्णु-शब्दोपलक्षित ज्ञान-ब्रह्मका प्रकाश हो। विष्णुको उरुक्रम कहनेका अभिप्राय यह है कि उसके तीन पाद विश्व, तैजस, प्राज्ञ हैं और वह स्वयं अद्वितीय तुरीय है।

●

: 21 :

धनान्नदान-सूक्त

[ऋ० म०10 सूक्त 117]

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं
ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युतापृणन्
मर्डितारं न विन्दते॥ 1॥

'देवताओंने मनुष्योंके लिए केवल मृत्युके कारणके रूपमें ही क्षुधा नहीं दी है, प्रत्युत भलीभाँति भोजन करनेवालोंके पास भी नानारूप धारण करके मृत्यु जाती है। यह निश्चित है कि दान करनेसे धनका क्षय नहीं होता। यह बात अवश्य है कि किसीको कुछ नहीं देता उसको इस लोक या परलोकमें कोई सुख देनेवाला नहीं मिलता।'

व्यंकटनाथने कहा है कि जो लोग यह सोचकर दान नहीं करते कि हम भूखे मर जायँगे; उनका वैसे सोचना मूर्खतापूर्ण है। सायणाचार्यका कहना है कि इस मन्त्रमें व्यतिरेकसे दानकी प्रशंसा की गयी है। इसका अभिप्राय है कि क्षुधा मृत्यु है, उसको दूर करनेवाला जीवनदाता है। जो बिना दान किये ही भोग करता है, मृत्यु तो उसकी भी होती है। भूखे और

भोगीकी मृत्यु समान है। कहावत है भूखसे उतने लोग नहीं मरते जितने कि भोगकी अधिकतासे। अदाताको कहीं भी सुख नहीं मिलता। इसका अभिप्राय यह है कि न देनेसे भाई-बन्धु सुख नहीं देते और यज्ञादि नहीं करनेसे देवता सुख नहीं देते।

य आध्राय चकमानाय
पित्वोऽन्नवान्त्सन्नफितायोषजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो
चित्स मर्डितारं न विन्दते॥ 2॥

'जो कृपण मनुष्य दारिद्र्य-दुःखसे पीड़ित अपने सम्मुख समागत इच्छुक एवं निराधार दुर्बलको अन्न नहीं देता और अपने अन्तःकरणको कठोर बनाकर उसे क्लेश देता है, केवल क्लेश ही नहीं देता उसके सामने ही उसे दिये बिना ही उपभोग करता है, उसको भी लोक-परलोकमें सुख देनेवाला कोई नहीं मिलता।'

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायाम्॥ 3॥

'वस्तुतः भोक्ता तो वही है जो दाता है (खिलानेमें जो आनन्द है वह खानेमें नहीं)। जो दरिद्रतासे निर्बल एवं कृश हो गया है—अपने घरमें अतिथि हुआ है, अन्न माँगता है या चाहता है उसको देना ही सर्वोपरि भोग है। देवताओंके द्वारा अनुगृहीत यज्ञसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, इस अन्नदानसे भी उसी फलकी प्राप्ति होती है। उसके केवल मित्र ही मित्र नहीं होते, अपितु शत्रुओंकी सेना भी उसके लिए मित्रवत् हो जाती है।'

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ 4॥

'जो कृपण अपने साथी, सेवक, अधीन एवं मित्रोंको अन्न नहीं देता वह न सखा है, न सुहृद्। वह नाम लेने योग्य सहृदय भी नहीं है। ऐसे अनुदार कृपणको छोड़कर यदि कोई चला जाय तो उस कृपणका

निवासस्थान निवासयोग्य नहीं रहेगा। भवन, सदन या गृह तो वह है जो मित्रोंसे भरा रहे। जो लोग छोड़कर चले जायँगे वे उदार दाताकी शरण लेंगे और उसीसे प्रेम करेंगे।'

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥ 5॥

'धनी पुरुषका यह परम कर्तव्य है कि वह दरिद्र-दुःखी याचकको अवश्य धन-दान करे। जो दान करता है वह दीर्घतम पुण्यमार्गको जान लेता है और उसका पार पा लेता है। संसारके ये धन अपने आश्रयको बदलते रहते हैं, अर्थात् एक स्थानपर नहीं टिकते। जैसे रथके पहिये ऊपर-नीचे आवर्तित-प्रत्यावर्तित होते रहते हैं वैसे ही धन एक दूसरेके पास आते-जाते रहते हैं, इसलिए दान अवश्य करना चाहिए।'

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ 6॥

'जिसका मन दानमें नहीं लगता उसका अन्न-भोजन व्यर्थ है। वह भोजनका अधिकारी भी नहीं है। मैं यह सत्य-सत्य यथार्थ बोलता हूँ कि अदाता-भोक्ताके लिए वह अन्न केवल व्यर्थ ही नहीं है; बल्कि मृत्युरूप भी है। जो पुरुष ज्ञानदाता, देवता, सखा, अभ्यागत-अतिथि और मित्रोंका पोषण नहीं करता वह निरर्थक ही मर गया; उसका जीवन निष्प्रयोजन व्यतीत हुआ। जो अकेला, असाक्षिक अन्नका भोजन करता है; वह केवल पापी ही होता है। वह लोक-परलोकसे वञ्चित हो जाता है; उसके केवल पाप ही शेष रहते हैं। इसका अभिप्राय है कि दान अवश्य करना चाहिए।'

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥ 7॥

'हल खेतकी जुताईमें लगे रहनेपर ही किसानको भोजन देता है, घरमें रखे रहनेपर नहीं। अपने पाँवसे चलते रहनेपर ही मार्ग कटता है और धनकी प्राप्ति होती हैं, घरमें बैठे रहनेपर नहीं। शास्त्रका अभिप्राय न

बतानेवालेकी अपेक्षा बतानेवाला विद्वान् श्रेष्ठ एवं प्रियकारी होता है। न देनेवाला किसीका मित्र नहीं होता। दान करनेवाला उससे आगे बढ़कर सबका मित्र हो जाता है।'

एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे
द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे
संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥ 8 ॥

'एक पादवाला सूर्य दो पादवाले मनुष्योंको पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाता है। दो पादवाला युवा पुरुष यष्टिके सहारे चलनेवाले वृद्धके पीछेसे निकलकर आगे बढ़ जाता है। झुण्ड-झुण्ड (पाँच-पाँचकी पङ्क्तिके रूपमें) चलनेवाली भेड़ोंका संरक्षक चतुष्पाद कुत्ता भी दो पादवाले ग्वालेके बुलानेपर दौड़कर आ जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि चरणोंकी संख्यापर मनुष्यका महत्त्व नहीं है। अपने धनवान् होनेका अभिमान किये बिना धनका दान करना चाहिए।

इस मन्त्रकी व्याख्यामें सायणाचार्यने पाद शब्दका अर्थ भाग किया है। इसका अभिप्राय यह है कि एक पाद धनवाला भी परिश्रम करके दो पादवालेसे बढ़ जाता है अर्थात् गरीब भी धनी हो जाता है और कभी धनी भी गरीब हो जाता है। इसलिए धनका अभिमान करना व्यर्थ है और दान श्रेष्ठ है।

ब्यङ्कटनाथने वायुके अर्थमें प्रयोग माना है और श्लोक-तात्पर्य वही माना है।

निरुक्तमें एकपाद शब्दकी विवृतिमें कहा गया है कि ब्रह्मके एक-एक पाद हैं—अग्नि, वायु, सूर्य और दिशाएँ। इसलिए एकपाद पदका अर्थ सूर्य और वायु आदि हो सकता है। जो एक पादसे 'ज्योतिरात्मना' रक्षा करे अथवा एक-पादसे उदक-पान करे अथवा एक-पादसे गमन करे उसको एकपाद कहते हैं। निरुक्तमें निगम है कि सूर्य जलसे निकलनेके समय अपने एक-पादको वहीं रहने देता है। यदि वह वहाँसे

अपना पाद उठा ले तो काल-विभाग और वैदिक अभ्युदयनीय कर्मका लोप हो जानेके कारण जगत्में मृत्यु और अमृत्यु दोनों ही न रहें :

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
स चेत् तमुद्धरेदङ्ग न मृत्युर्नामृतं भवेत्॥
समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥ 9॥

'दोनों हाथ समान होनेपर भी समानरूपसे कार्यमें संलग्न नहीं होते। बछड़ेवाली गौएँ दुधारू होनेपर भी समान दूध नहीं देतीं। यमज—जुड़वाँ जन्मे हुए भाई भी समान-पराक्रमी नहीं होते। इस प्रकार एक कुलमें समानरूपसे उत्पन्न भाई-भाई भी समान दान नहीं करते। इसका अभिप्राय यह है कि आप दानका काम भाईपर न छोड़कर स्वयं करें।'

●

: 22 :

पापमुक्ति-सूक्त

(शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय 20, मन्त्र 14-17)

यद्देवा देहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वंहसः ॥ 1 ॥

'कल्याणकारी प्रकाशमान देवताओ! हम लोगोंने जो आप लोगोंका, श्रेष्ठ पुरुषोंका और ज्ञानका तिरस्काररूप अपराध किया है, अग्निस्वरूप परमात्मा उन सब पापों और विघ्नोंसे हमारी रक्षा करें।'

मनुष्यसे जान या अनजानमें अपराध होते ही रहते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो देवता न हो अथवा जिसमें देवता न हों—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें भी श्रेष्ठता, सद्गुण, सौजन्य आदिका निवास होता है। वे भी अपने विचार, आचार, आलाप-संलाप आदिके द्वारा जगत्का कल्याण करते हुए विचरण करते रहते हैं। देवता आनन्द, प्रकाश और कर्मका आदर्श देते हैं। इनके अतिरिक्त अपने अन्तःकरणमें ही सत्य एवं पवित्रताके ज्ञानके रूपमें अनेक देवताओंका निवास है। जब हम संसारकी वस्तुओंको अशुद्ध करते हैं, महात्माओंके आदेश, आदर्श अथवा संकेतकी अवहेलना करते हैं तब अपराध तो होता ही है। सबसे बड़ा अपराध है—अपने ही अन्तःकरणमें विराजमान यथार्थ ज्ञानका तिरस्कार करके भोग, वस्तु, कर्म अथवा भाषणको स्वीकार करना। इनके लिए अपने अन्तःकरणमें ही विद्यमान परमात्मासे मुक्त होनेकी प्रार्थना करना सर्वथा उचित है। प्रत्येक प्रार्थना अपना संस्कार छोड़ती है। वह संस्कार गाढ़ होकर निश्चयका रूप धारण करता है। निश्चय गाढ़ होकर समर्थ हो जाता है और वह नये अपराध नहीं होने देता, साथ ही पुराने अपराधोंको क्षीण कर देता है।

एनस्: यह शब्द 'हण् गतौ' धातुसे बना है। जिसके द्वारा मनुष्य अध:पतित हो वह। इसका दूसरा अर्थ है जो प्रायश्चितसे निवृत्त हो जाय।

अंहस्: यह गत्यर्थक 'अम' अथवा 'अहि' धातुसे बना है और 'असन्' प्रत्यय हुआ है। यह जीवनमें आता है—अभ्युदय, उन्नति अथवा प्रगतिमें रुकावट डालनेके लिए। आचार्योंने इसका अर्थ 'विघ्न' किया है।

शास्त्रके द्वारा यह ज्ञात होता है कि क्या पाप है और क्या पुण्य? कर्तृत्व-बुद्धिसे करनेपर उनका अपने साथ सम्बन्ध होता है। कर्तृत्व-बुद्धि अपने स्वरूपकी अद्वितीयता एवं अपरिच्छिन्नताके अज्ञानसे होती है। ब्रह्मज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हुए बिना कर्तृत्व-बुद्धिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। कर्तृत्व-बुद्धिकी निवृत्ति हुए बिना पाप-पुण्यकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। समाधि आदि दशाओंमें जो कर्तृत्वकी निवृत्ति है वह तात्कालिक है, आत्यन्तिक नहीं। अत: व्युत्थान दशामें फिर पाप-पुण्यका सम्बन्ध हो जाता है। जबतक कर्तृत्व है तबतक पाप-सम्बन्धकी निवृत्तिके लिए त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे प्रायश्चित करना चाहिए या समष्टि शक्तियोंसे प्रार्थना करनी चाहिए कि वे पापसे मुक्त कर दें। अग्नि एक समष्टि शक्ति है। दाह और पाक उसकी विशेषता है। वह हिरण्यगर्भ है, जातवेदा है, ईश्वरका अवतार है। उसमें पापको भस्म कर देनेकी शक्ति है। अत: इस मन्त्रमें अग्निसे यह प्रार्थना की गयी है कि हमें पापसे मुक्त करें।

यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि चकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहस:॥ 2॥

'हमने यदि दिनमें और यदि रात्रिमें पाप किया है, वायु देवता उस पापसे और तज्जन्य सम्पूर्ण विघ्नोंसे हमारी रक्षा करें।'

गति गन्धनार्थक 'वा' धातुसे 'उण्' प्रत्यय और 'युक'का आगम होनेपर 'वायु' शब्द निष्पन्न होता है; 'इण् गतौ'से भी। भूर्लोकका देवता

अग्नि है, भुवर्लोकका वायु, स्वर्लोकका सूर्य। एक ही देवता तीन स्थानोंमें तीन रूपसे प्रकट होता है। वायु मध्यम स्थानीय देवता है। यह ओषधि, वनस्पति और जलाशयोंसे जलका उपसंहरण करता है। यही समय आनेपर वर्षाका हेतु भी बनता है। अतः पाप-रसका शोषण और पुण्य-रसका वर्षण वायुका ही कार्य है। यह पाप-पुरुषको सुखा देता है और पुण्यपुरुषमें प्राण-संचार करता है, उसे जीवन देता है। यह एक महत्ती पवमानी शक्ति है। यही कारण है कि वायुरूप ईश्वरसे अपने पापोंके नाशकी प्रार्थना करी जाती है।

यदि जाग्रद्यदि स्वप्न एनांसि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः॥ 3॥

'यदि हमने जाग्रत्-अवस्था अथवा स्वप्न-अवस्थामें पाप किये हैं तो भगवान् सूर्य हमें उन पापोंसे तथा दूसरे सब पापोंसे मुक्त कर दें।'

विविध शरीर-व्यक्तियोंमें पृथक्-पृथक् चिदाभास प्राणी और देवता आदि होते हैं। सूर्यादि आजान देवता हैं। ये सृष्टिके मूलभूत तत्त्वोंमें ही प्रकट होते हैं। जैसे लोक-व्यवहारमें शरीरमें लगा मल, मिट्टी, पानी आदि मूल तत्त्वोंसे ही पूर्णतः शुद्ध होता है, वैसे ही विहितके अनाचरण और निषिद्धके आचरणसे उत्पन्न पाप इन आजान देवताओंकी प्रार्थना और उपासनोंसे मिटते हैं। पाप-पुण्यकी उत्पत्ति केवल मनुष्य-जीवनमें होती है। भोग-सम्बन्ध अन्य योनियोंमें भी होता है। मनुष्य जब अपने जीवनमें किये हुए पापोंके लिए पश्चात्ताप और प्रायश्चित करता है तब वह शुद्ध होता है। परन्तु यह जीवका अपना प्रयत्न है। जब वह महान् देवताओं अग्नि, वायु, सूर्य आदिकी सहायता लेता है तो व्यष्टि अभिमान क्षीण होने लगता है और पापकी निवृत्ति होने लगती है। इन देवताओंके रूपमें भी ईश्वर ही है। पृथक्ताके कारण इनमें ईश्वरत्वका बोध नहीं होता, भाव होता है। इसके बाद जब सूर्य, अग्नि आदिकी पृथक्ता छोड़कर सर्वत्र विद्यमान एक ईश्वरपर दृष्टि जाती है और उसकी प्रार्थना तथा शरणागति होती है तब सब पापोंका क्षय हो जाता है। यह ईश्वर भी परोक्ष ही है। जब प्रत्यगात्मा

साक्षात् अपरोक्ष रूपसे अपनेको ब्रह्म अनुभव कर लेता है अर्थात् अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। तब केवल पापोंका क्षय ही नहीं होता, उनका बीज नष्ट हो जाता है अर्थात् आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। आत्यन्तिक निवृत्तिका यह अर्थ नहीं होता कि पहले थे और मिट गये, प्रत्युत उसका यह अर्थ है कि वे पहले भी नहीं थे, अब भी नहीं हैं और आगे भी नहीं रहेंगे; क्योंकि द्वैत ही नहीं है। जो अविद्यासे है, वह वस्तुत: नहीं है। जो विद्याका प्रकाश होनेपर है, वह पहलेसे ही विद्यमान और विराजमान है। सदा प्रकाशमान होनेपर भी केवल अज्ञातता ही उसे छिपाये हुए थी।

इसका निष्कर्ष यह है कि परिच्छिन्नसे अपरिच्छिन्नकी ओर यात्रा कर देनेपर सारे पाप अपने-आप ही भस्म होने लगते हैं।

इस मन्त्रका व्याख्यान स्वयं श्रुतिने भी किया है। जाग्रत-अवस्था मनुष्य है और स्वप्नावस्था पितर। मनुष्योंके प्रति पाप और पितरोंके प्रति पाप। दोषदृष्टि ही पाप है। नेत्रके देवता सूर्य हमारी दृष्टिको पवित्र करें जिससे हम किसीके प्रति दोषदृष्टि न करें। वैसे स्थूल रूपमें भी अग्नि, वायु एवं सूर्यके द्वारा पाप-वृत्तिका नाश होते देखा जाता है, मनको उनमें लगा देनेपर।

यद्ग्रामे यदरण्ये सद्सभायां यदिन्द्रिये
यच्छूद्रे यथर्थे यदेनश्चकृमा वयं
यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि॥ 4॥

'हमने ग्राममें, अरण्यमें और सभामें (पक्षपात आदि) जो पाप किये हैं तथा वाणीसे झूठा कलंक लगाया है, दुर्भावयुक्त नेत्रोंसे परनारीका दर्शन किया है; शूद्रके प्रति, वैश्यके प्रति, स्वामीके प्रति हमसे जो अनुचित आचरण हुआ है, पति-पत्नीके रूपमें गृहस्थ-धर्मके पालनमें जो त्रुटियाँ हुई हैं; हे कुम्भस्थ जलाधिष्ठाता वरुणदेव! आप उनका नाश कीजिये।'

मनुष्यको कभी गाँवोंमें रहना पड़ता है और कभी वनमें। वह कभी

सभामें भी जाता है। सर्वत्र उसे सावधान रहना चाहिए, प्रमाद नहीं करना चाहिए। प्रमाद सबसे पड़ा पाप है। प्रमादमें आनन्द, ज्ञान और सत्कर्म—तीनोंका ही अभिभव हो जाता है। इनका अभिभव सच्चिदानन्द आत्माका ही अभिभव है 'इन्द्रिय' शब्दका अर्थ श्रुतिने 'देवता' किया है। पवित्र, जल, अग्नि, वायुको भ्रष्ट करना भी देवताओंका अपराध है। अपनी इन्द्रियोंका दुरुपयोग भी देवताओंका अपराध है। बड़ोंका तिरस्कार भी देवताओंका अपराध है। शूद्रको नीच समझना, उससे घृणा-द्वेष करना, स्वामीके सम्मुख उद्दण्ड होना, वैश्यको बेईमान कहकर पुकारना इत्यादि अपराध हैं। गृहस्थ दम्पत्ती परस्पर और दूसरोंके प्रति व्यवहारमें जो धर्म-मर्यादाका अतिक्रमण करते हैं, वह भी अपराध है। इस मन्त्रमें वरुणसे उन पापोंके नाशकी प्रार्थना की गयी है।

जलमें बाह्य मलके प्रक्षालनकी शक्ति प्रत्यक्ष है। उसके अधिदेवता वरुणमें भिन्न-भिन्न क्रियासे उत्पन्न होनेवाले मलोंके निराकरणका सामर्थ्य है: अत: इस मन्त्रमें उनसे प्रार्थना की गयी है।

●

: 23 :

चरैवेति = बढ़ते ही चलो

(ऐतरेय ब्राह्मण 33.3)

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तोति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥ चरैवेति॥

'हे रोहित! हमने श्रुतियों एवं सत्पुरुषोंसे यह परम्पराप्राप्त उपदेश श्रवण किया है कि जो परिश्रम करते-करते अपनेको थका नहीं देता उसे श्रीकी प्राप्ति नहीं होती। जो पुरुष अपने सगे-सम्बन्धी मनुष्योंके बीचमें बैठा रहता है, उनसे अलग रह स्वतन्त्र पौरुष नहीं करता, वह पापी है। निश्चय ही परमेश्वर प्रगति-शीलका सहयोगी है। अतः चलते ही चलो—आगे बढ़ो—बढ़ते ही चलो।'

अपने पिता हरिश्चन्द्रको वरुणके कोपसे बचानेके लिए यह आवश्यक था कि रोहित अपने घर लौट जाय और अपनेको बलिके रूपमें मरने दे। मार्गमें इन्द्र ब्राह्मणके रूपमें उपस्थित होकर उसे बलि होनेसे रोकते हैं और पूर्ण पौरुष करनेकी प्रेरणा देते हैं। यह उसी प्रसंगका मन्त्र है।

नानाश्रान्त=आश्रान्त—पौरुष करके पूर्णरूपसे थका हुआ;

अन्=नहीं, **न**=नहीं। दो नहीं परस्पर कटकर केवल आश्रान्त रह गया।

पापः 'पाप' शब्दसे मत्वर्थीय अच् प्रत्यय=पापी। **चर**=गति और भक्षण। यहाँ **गति**=प्रगति अर्थ विवक्षित है। चलते रहिए, पार करते जाइये, आगे बढ़ते चलिए।

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति॥ 2॥

'जो पुरुष विचरण करता है, आगे बढ़ता है, भूतोंको छोड़ता चलता है; उसकी जाँघें फूलसे युक्त हो जाती हैं अर्थात् वह फूल बिछे मार्गपर चलता है। उसके मार्ग सुगम और सुखद हो जाते हैं। उसके जीवनका भविष्य ऐश्वर्यशाली हो जाता है। उसको अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है उसके उत्तम पथपर श्रमके प्रभावसे सारे पाप मरकर धराशायी हो जाते हैं। अतः तुम चलते ही रहो, कहीं किसी स्थान, वस्तु या व्यक्तिसे आसक्त मत हो। आगे बढ़ो।'

जंघाका विशेषण है—**पुष्पिणी**। मार्गमें इतने फूल कि जंघातक आ जाय। मार्गकी सुखकारिताका संकेत है। **भूष्णू**=भविष्यमें अपने जीवनको उत्तम बनानेवाला। **शेरे**=शेरते—सो जाते हैं। श्रम पापोंको नष्ट करके धराशायी कर देता है।

वैदिक साहित्यमें पाप्मा शब्दका अर्थ पाप ही है। पापका अर्थ है—पापवासना, ग्लानि और पापके फलरूप दुःख। 'पाप मिट जाते हैं' का अभिप्राय है कि परिश्रमी पुरुषके जीवनमें पापवासना, ग्लानि और दुःख नहीं होते हैं। वह उत्साहके साथ अपने कर्तव्य पूरे करके आनन्दका अनुभव करता है।

आसते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥ 3॥

'जो पुरुष स्वयं बैठ जाता है उसका सौभाग्य (ऐश्वर्य अथवा उन्नति-प्रगति) भी बैठ जाता है—अवरुद्ध हो जाता है। खड़ेका ऊपर खड़ा रहता है अर्थात् उसके चलनेकी प्रतीक्षा करता है। जो पड़ जाता है, सो जाता है उसका सौभाग्य भी सो जाता है। जो आगे बढ़ता है उसका सौभाग्य भी आगे-आगे आकर मिलता है। इसलिए आगे बढ़ो। अपने उत्तम कर्त्तव्य पूरे करते चलो, फलकी चिन्ता मत करो।'

चराति-लेट् लकारका क्रियापद है। इसका प्रयोग वेदोंमें ही होता

है। भग-भज् सेवार्थक धातुसे बनता है; भजनीय=जिसे सब पाना चाहते हैं।

कलि शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंश्चैरवेति॥ 4॥

'जो सोता है वह कलियुग रूप है, निम्नकोटिका है। जो नींद छोड़कर उठनेके लिए तैयार है वह द्वापर रूप है, पहलेसे उत्तम है। जो उठकर खड़ा हो गया वह त्रेता रूप है, अपने कर्तव्यपालनके लिए तत्पर है। जो चल पड़ता है अर्थात् उत्साहपूर्वक अपने कर्तव्यपालनमें संलग्न हो जाता है वह सत्ययुगके समान है। उसने अपने कर्तव्य पूरे कर लिये, उनका फल पा लिया। अतः आगे ही बढ़ते चलो।'

इस मन्त्रके आधारपर मनुस्मृतिमें भी एक श्लोक है। देखिये (9.302)। चार युग शास्त्रप्रसिद्ध हैं। कलियुगमें धर्मकी सबसे न्यून स्थिति होती है और सत्‌युगमें पूर्ण। कर्तव्यपरायण पुरुषकी स्थिति सत्‌युगके समान धर्मकी सर्वोच्च स्थिति है। आप सर्वोच्च धर्मात्मा बनें। आगे बढ़े। **शयान**—स्वप्नार्थक शीङ् धातुका शानच् प्रत्ययान्तरूप है। **संजिहान**—गत्यर्थक हाङ् धातुका रूप है, प्रत्यय वही शानच्। सम् उपसर्ग है।

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चैरवेति॥ 5॥

'जो पुरुष आगे बढ़ता है उसे मधुकी प्राप्ति होती है। जो पुरुष आगे बढ़ता है उसे उदुम्बरके सदृश स्वादु फलकी प्राप्ति होती है। देखो, सूर्यकी विशेषता—निरन्तर परिश्रम—आगे बढ़ते रहना; जो चलते-चलते कभी आलस्य नहीं करते। तुम भी जीवनमें आगे बढ़ो, बढ़ते चलो।'

यह संसार एक वनके समान है। जो इसमें चल-फिरकर—आगे बढ़कर अनुसन्धान नहीं करेगा उसे मधुकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वनमें कहीं-कहीं मधु मिलती ही है। मधुका अर्थ है—सुख। उपनिषदोंमें ब्रह्मानन्दके लिए मधु शब्दका प्रयोग हुआ है। मधु-ब्राह्मण प्रसिद्ध है।

उदुम्बर : यह गूलर अथवा अंजीरका नाम है। वनमें विचरण करनेसे स्वादु फलकी प्राप्ति होती है। इसका अर्थ भी मधुर फलका मिलना ही है।

श्रेमाणम् : यह शब्द श्री या श्रमसे बना है। सायणने इसका अर्थ श्रेष्ठता किया है। चलते रहना ही श्रेष्ठता है। प्रसंग श्रमका है। जीवन श्रमशील होना चाहिए।

इस प्रकरणमें पौरुषकी निरतिशय महिमाका वर्णन है। जो पौरुषसे वञ्चित हो जाता है वह पुरुषार्थ (धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष)से भी वञ्चित हो जाता है। अपने जीवनको सफल बनानेके लिए अखण्ड पुरुषकार करना चाहिए।

●

: 24 :

किसीसे मत डर

(अथर्ववेद 2.3.15)

यथा द्यौश्च पृथिवी च न विभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा विभेः ॥ 1 ॥

'जैसे द्युलोक और पृथिवी लोक न किसीसे डरते हैं और न किसीसे रिक्त होते हैं, इसी प्रकार ओ मेरे प्राण! तुम किसीसे मत डरो।'

वेद भगवान् कहते हैं कि पृथिवी और अन्तरिक्षमें आकाशके विशाल विस्तारमें कितने ही भयङ्कर-से-भयङ्कर हिंस्र प्राणी आते-जाते रहते एवं आँधी-तूफान उठते-बैठते रहते हैं; परन्तु वे अपने आधार एवं आश्रयसे न डरते हैं और न उनका आधार और आश्रय ही उनसे डरता है। जहाँ आश्रय और आश्रितका सम्बन्ध है, वहाँ भय, हानि एवं रिक्तताका कोई सम्बन्ध नहीं है। भक्त और भगवान्का ऐसा ही सम्बन्ध है। जो भगवान्से एक हो चुका है, उस भक्तमें सब और सबमें वह भक्त है। इसलिए न वह किसीसे उद्विग्न होता है और न किसीको उद्विग्न करता है। अपने प्राणको आश्वासन देते हैं कि ओ मेरे आत्मा! इस दृष्टिकोणको अपनाकर तू मत डर!

एथाहश्च रात्री च न विभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा विभेः ॥ 2 ॥

'जैसे दिन और रात्रि किसीसे डरते नहीं हैं। सतत निरन्तर अपने मार्गपर चलते रहते हैं, न रिक्त होते हैं, वैसे ही मेरे प्यारे आत्मदेव! तुम भी न किसीसे डरो, न किसीको छोड़ो।'

वर्तमानकाल निरन्तर भूत, भविष्यमें बँटता जा रहा है। टुकड़े-टुकड़े होता हुआ भी निरन्तर चलता रहता है। उसके खण्ड-खण्डमें अखण्डका प्रकाश है। सच पूछो तो खण्ड ही अखण्डको दिखाते हैं। क्या

उसकी खण्डतामें सब कुछ नहीं रहता है? कोई वस्तु उसे छोड़कर चली जाती है? अर्थात् तब वह भी मरा ही रहता है। 'निर्भय रहो' कहनेका अभिप्राय है कि भय ही विनाश और ह्रासका कारण है। निर्भय होकर चलो।

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न विभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा विभेः॥ 3॥

'जैसे सूर्य और चन्द्रमा निर्भय रहते और विश्वको प्रकाश एवं चाँदनी देनेकी क्रिया निरन्तर करते रहते हैं; कभी डरते नहीं हैं और कभी किसीसे हीन नहीं होते; मेरे प्यारे आत्मदेव! मेरे प्राण! तुम इसी प्रकार मत डरो। अर्थात् तुम लोगोंपर प्रकाश और शीतलता, ज्ञान तथा रसकी वर्षा करते चलो। डर छोड़ दो। तुम्हें कोई नहीं छोड़ेगा।'

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न विभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा विभेः॥ 4॥

'जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय कभी किसीसे डरते नहीं है और न अपने स्वभावसिद्ध सद्गुणसे रिक्त होते हैं, वैसे ही, ओ रे! मेरे प्राण! तू किसीसे डरे मत। अपनेमें हीनताका अनुभव भी मत करे।'

ब्राह्मण प्रज्ञाप्रधान है और क्षत्रिय बलप्रधान। दोनों ही औचित्य-निर्णय और बलप्रयोगमें निर्भय होते हैं। ब्राह्मण धर्माधर्मका निर्णय करके और क्षत्रिय युद्धभूमिमें शत्रुका संहार करके अपनेमें हीनताका अनुभव नहीं करते। प्रज्ञा और बलके उपयोगसे वे उनसे रिक्त नहीं हो जाते, प्रत्युत भर जाते हैं। उपयोगसे अभ्यास और अभ्याससे गाढ़ता। ठीक इसी प्रकार हमारा जीवन निर्भय होकर निर्दिष्ट पथपर बढ़े, बढ़ता रहे।

यथा सत्यं चानृतं च न विभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा विभेः॥ 5॥

'जैसे सत्य और झूठ, परमार्थ और संसार अपने स्थानपर निर्भय टिके रहते हैं और कभी रिक्त नहीं होते, इसी प्रकार मेरे प्राण! तुम भी डरो मत।'

आकाश और नीलिमा, सत्य और प्रतीति, अधिष्ठान और अध्यस्त निरन्तर भासमान रहनेपर भी एक दूसरेसे भयभीत अथवा हीन (रहित) नहीं होते हैं। यह बात दूसरी है कि भासमान होनेपर भी एक बाधित है और दूसरा अबाधित। न अधिष्ठानके बिना अध्यस्तता है और न अध्यस्तके बिना अधिष्ठानता है। दोनों भरे-पूरे निर्भय रहते हैं। मेरे प्राण! तुम भी इसीप्रकार निर्भय रहो।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ 6॥

'जैसे भूत बीतता जाता है और भविष्य भी निरन्तर आता जाता है; दोनों ही न डरते हैं और न रिक्त होते हैं। उनमें भय, निष्क्रियता, प्रवाहवरोध अथवा निर्विषयता कभी नहीं होती। इसी प्रकार मेरे प्राण! तुम कभी मत डरना।'

निर्द्रव्य काल भी निरवयव है और अधिष्ठानमें कल्पित और उससे अभिन्न है। जब काल और कालका अत्यन्ताभाव—दोनोंका अधिष्ठान एक ही है तब वस्तुतः काल अपने अत्यन्ताभावका विरोधी नहीं, अन्यन्ताभाव-स्वरूप ही है। द्रव्यसहित काल ही सावयव है। उसीमें भूत, भविष्यके भेद भासते हैं; परन्तु वे निर्भय रूपसे ही द्रव्यको ग्रसते और बनाते हैं। दोनोंकी सन्धि नहीं है, इसलिए वर्तमान केवल प्रतीतिमात्र है। फिर तो भूत-भविष्यका विभाग भी प्रतीतिमात्र है। ऐसे होनेपर भी काल निर्भय रहता है और कभी खाली नहीं होता। इसीसे कहा गया है कि प्राण! तू निर्भय रह। जन्म-मरणके आतंकसे मुक्त हो जा।

●

: 25 :

शिवसंकल्प-सूक्त : प्रवचन

प्रस्तावना

मंगलाचरण

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं-
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

श्रुतिमें प्रार्थना की गयी है—

भद्रमपिवातय मे मनः।

हमारे मनको कल्याणसे भर दो।

भद्र (कल्याण) क्या?

यद् भजनीयं भवति : जिसे हम जान-बूझकर पाना चाहते हैं।

भवत् रमयति जो उत्पन्न होते ही आनन्दमें भर देता है।

जब मनके सम्बन्धमें प्रार्थना की जा रही है तब जाननेकी पहली बात है कि मन क्या है? इस मनके सम्बन्धमें दार्शनिकोंके भिन्न-भिन्न मत हैं।

ग्राहक ज्ञानको ही मन कहते हैं। इन्द्रियोंसे बाहरी वस्तुओंको देखकर, सुनकर, छूकर, सूँघकर या चखकर जो अनुभव होता है, जो उनके संस्कारको पकड़ ले, उस ज्ञानका नाम मन है।

मैंने पचास वर्ष पूर्व एक दृश्य देखा था। अब वह दृश्य मुझे स्मरण आता है। यह स्मरण कहाँ आता है? हमारे ज्ञानमें ही उसका संस्कार सञ्चित है। स्मृतिके रूपमें इस संस्कारका उदय हो जाता है।

बचपनमें अग्निमें हाथ पड़ गया तो जल गया। अब आगेके लिए हम कर्तव्यका निश्चय कर लेते हैं कि अग्निमें हाथ नहीं डालना चाहिये।

'अग्निमें हाथ डालनेसे जलता है; यह स्मृति रहती कहाँ है, इस विषयपर दार्शनिकोंमें मतभेद है।

वेदान्तका कहना है—ज्ञानस्वरूप आत्मामें यह स्मृति-विस्मृति सर्वथा नहीं रहती। आत्मा तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप है; किन्तु हमारे शरीरमें मन नामकी एक ऐसी वस्तु है जो देखे, सुने, अनुभव किये पदार्थोंकी स्मृति रखता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि मनमें जो संस्कारजन्य ज्ञान होता है और जो स्वत:सिद्ध ज्ञान है, दोनोंमें अन्तर क्या है?

अन्तर यह है कि संस्कारजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है, मिटता है और बीच-बीचमें बदलता रहता है। इसका अश्रय भी होता है और विषय भी। यह ज्ञान किसीके विषयमें किसीको होता है। यह जन्म-मृत्युवाला, अनेकाकार, सविषय, साश्रय है। इस वृत्तिज्ञानको ही मन कहते हैं।

जो अखण्ड एकरस रहता है, जिसमें न उदय है—न विलय, सुषुप्तिमें भी जिसका लोप नहीं है, जिसमें अनेकाकारता-सविषयता-साश्रायता नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

व्यवहार जितना चलता है; वह ज्ञानस्वरूप आत्माके सान्निध्यमें हमारा मन करता है। जिससे सविशेष अनुभूतियाँ हैं, वे सब-की-सब इसी मनमें सञ्चित रहती हैं।

पहले-पहले मनुष्य जब आत्मान्वेषणके इस मार्गमें चलता है, तब वह चार्वाकवत् निश्चय करता है। भूल जाइये कि चार्वाक नामका कोई व्यक्ति इतिहासमें कभी हुआ था। चार्वाकवत्का तात्पर्य है ज्ञानका एक स्तरविशेष।

'माता-पिताके रज-वीर्यसे शरीर उत्पन्न हुआ है। इसमें मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु स्पष्ट दीखते हैं। इन्हीं चारोंके संयोग-विशेषसे एक चेतनाकी-मनकी उत्पत्ति शरीरमें हो गयी है। यह चार भूतोंसे बना शरीर ही आत्मा है। ये चार भूत ही आत्मा एवं मनके भी उपादान हैं। शरीरमें मन नामक वस्तु जन्मके पश्चात् मृत्युतक स्फुरित रहती है। यह संस्कार

ग्रहण करती है। इसीमें स्मृति-कल्पना, 'मैं-मेराके सब सम्बन्ध बनते रहते हैं। जब शरीर नष्ट होता है, तब ये सब नष्ट हो जाते हैं।' यह निश्चित ही चार्वाकवत् निश्चय है।

न्याय और वैशेषिक दर्शनोंका मत है—क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, कर्मेन्द्रियाँ पाँच हैं, विषय पाँच हैं, अतः भूत भी चार नहीं हैं, पाँच हैं।

अवकाशात्मक शब्दगुणक आकाश है, स्पर्शगुणक वायु आकाश होनेसे ही गतिशील है। इन दोनोंके संघर्षसे तेज उत्पन्न होता है। उसकी द्रवताका नाम जल है। उसका जमा हुआ ठोसरूप पृथिवी है।

जगत्की मूल सत्तामें भी पाँचोंका कोई-न-कोई रूप प्राप्त है। मूल सत्तामें सबको धारण करना पृथिवीका, सबको आप्यायित करना जलका, सबको प्रकाशित करना तेजका, सबको गति देना वायुका, सबका अधिष्ठान होना अवकाशका गुण है। इस प्रकार एक ही सत्ता पञ्चभूतोंके रूपमें प्रकाशित होती है।

न्याय और वैशेषिक दर्शनोंने बड़े जोरसे चार्वाकका खण्डन करके बतलाया है कि 'केलव मन ही नहीं है। मनके भीतर कर्त्ता भी है। जब कर्त्ता कर्म करता है, तब उसके अनुसार संस्कार पड़ते हैं। मन न शरीरके साथ जन्म लेता है, न शरीरके साथ मरता है। मनका भी एक अन्तः-करण रूपसे अस्तित्व है जो शरीरसे परे है। कर्त्ता आत्मा इन सबसे पृथक् है।'

जैनमतने कहा—'जगत् नित्य है। इसकी उत्पत्ति-विनाश नहीं है। यह बात भी ठीक है कि मन ही सब कुछ नहीं है, इसमें कर्त्ता जीव भी है। वह कर्त्ता जीव अपने अन्तःकरणके साथ जहाँ जाता है, उतना बड़ा बन जाता है। जब साधनाभ्यास करके वह शुद्ध होता है, तब निर्मल-उज्ज्वल रूपमें प्रकट होता है। वह जीवकला न सत् है, न असत्। वह सत् भी हो सकता है, असत् भी हो सकता है, सदसत् भी हो सकता है।' इस प्रकार सब वस्तुओंकी जैनमतने स्याद्वादानुसार संगति लगायी है। वे कहते हैं—'जगत्के मूलमें कोई ईश्वर नहीं है। जीवात्मा मरणके पीछे भी रहता है।

यदि वह तीर्थाङ्कर हो गया तो उसे जगत्‌का भान हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। जगत् सत् भी रह सकता है, असत् भी। तीर्थङ्कर रह कैसे भी सकते हैं; किन्तु वे अत्यन्त उज्जवल-निर्मल होते हैं।'

योग और सांख्यने कहा—'अभ्यासजन्य निर्मलता आत्मामें नहीं होती। स्वभावसे ही यह निर्मल और द्रष्टा है। आत्मा विवेकसे भी द्रष्टा है और अभ्याससे चित्त-निरोध हो जानेपर भी द्रष्टा है।'

इस 'त्वं'-पदार्थके शोधनमें वेद-शास्त्र-पुराणादिकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। कोई विवेक करे तो दृश्य-द्रष्टा दो पदार्थ स्पष्ट हो जायँगे। जो दिख रहा है, वह दृश्य और जो दृश्यको देख रहा है, वह द्रष्टा।

बिना वेद-शास्त्रका आश्रय लिये निपुण विवेकसे भी यह 'त्वं'-पदार्थका बोध हो जायगा। यह पता लग जायगा कि—'मैं केवल ज्ञानस्वरूप अपरिणामी आत्मा हूँ।' यह सिद्ध हो जायगा कि—'मैं द्रष्टा हूँ।' इस प्रकार योग-संख्याने बिना शास्त्रका आश्रय लिये चित्तवृत्ति-निरोधसे एवं प्रकृति-पुरुष-विवेकसे केवल द्रष्टारूपमें पुरुषको सिद्ध किया।

बौद्ध दर्शनने कहा—'यह द्रष्टा-दृश्य विभाग सापेक्ष है। दृश्य होगा तब द्रष्टा होगा और द्रष्टा होगा, तब दृश्य होगा। जब दो वस्तुएँ परस्पर सापेक्ष होती हैं, तब उनमें कोई भी तत्त्व नहीं होता। जैसे पिता-पुत्र। जो पिता है, वही किसीका पुत्र है या नहीं? जो पुत्र है, वह अपने पुत्रका पिता होगा या नहीं? इसी प्रकार जगत्‌में कोई व्यक्ति नहीं है जिसका पितृत्व-पुत्रत्व सापेक्ष न हो। इनमें परस्पर सिद्धि होती है। स्वतः सिद्धि किसीकी नहीं होती। अतः पिता भी अध्रुव एवं पुत्र भी। पिता भी निःस्वभाव और पुत्र भी। इनकी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। मूल तत्त्व शून्यरूप है। द्रष्टा-दृश्य दोनों उसमें कल्पित हैं, यथार्थ नहीं।'

इसके पीछे मीमांसाका क्रम आता है। पूर्वमीमांसाका कहना है—'हम बौद्ध एवं जैन-मतकी यह बात स्वीकार करते हैं कि एक

अन्तःकरण नामक वस्तु है और उसमें कर्म-संस्कार पड़ते हैं—किन्तु धर्माधर्मका निर्णय किसी मूल तत्त्वके आधारपर नहीं किया जा सकता। जैसे विष्ठा भी मिट्टी है और शिवलिंग भी मिट्टी है। इनमें मिट्टीके ज्ञानके आधारपर विष्ठाकी हेयता तथा शिवलिंगकी पूज्यता सिद्ध नहीं होगी। यह तो उनमें जो संस्कारविशेष है, उससे सिद्ध होगी। शास्त्र-दृष्टिसे निर्णय होगा कि पूज्य कौन है? खाद्याखाद्यमें संविधान ही मानना होगा। परोक्ष स्वर्गादिकी प्राप्ति लिए तथा धर्माधर्म-निर्णयके लिए संविधान (वेद)के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। जो संखिया एक दशामें मारक है, वही दूसरी दशामें ओषधि है। अतः वस्तुके त्याज्य या ग्राह्य होनेका निर्णय मनुष्य अपनी बुद्धिसे नहीं कर सकता। यह निर्णय शास्त्रके द्वारा होगा।'

एक दिशा पूर्वमीमांसकोंने शास्त्र-प्रमाण होनेमें पकड़ी तो दूसरी दिशा वेदान्तने पकड़ी। वेदान्तने कहा—'तुम्हारी आत्मा क्या जगत्का उपादान है? यह सम्पूर्ण जगत् क्या तुम्हारे 'त्वं'से उत्पन्न हुआ है? श्रुतिने कहा हैं कि एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है। इसका अर्थ है कि एक ऐसी वस्तु है, जिसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु ही नहीं है। जबतक वह वस्तु न मिले, तबतक दूसरी वस्तु ऐसी सम्भव नहीं जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाय। अतः आत्माकी अद्वितीयता और एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान, यह केवल श्रुतिसे होगा। आत्मा द्रष्टा है, यह जानकारी तो विवेकसे या योगाभ्याससे सम्भव है; किन्तु यह द्रष्टा अद्वितीय है, ब्रह्म है, यह बात श्रुतिसे ही जानी जा सकती है।'

जो देहमें कर्त्ता बन बैठा है, समाधि या विवेकसे जो द्रष्टा बना लगता है, जगत्में जो नियन्ता-ईश्वर है अर्थात् समष्टिका नियन्तारूप आत्मा ईश्वर और व्यष्टिका नियन्तारूप आत्मा जीव तथा एक द्रष्टारूप आत्मा जो न व्यष्टिका नियन्ता है, न समष्टिका इनका एकत्व—आत्माकी अद्वितीयता वेदान्तसे जानी जाती है।

बौद्धोंमें केवल रूप-स्कन्दको छोड़कर संज्ञा-स्कन्द, वेदना-स्कन्द और विज्ञान-स्कन्द इन तीनोंको मन ही माना।

जैनमतमें मलिन और निर्मल दो रूपमें दो प्रकारका मन ही माना गया है।

चार्वाक मतमें यावत् शरीर मन शरीरमें रहता है।

वैष्णव मतमें मन सत्य पदार्थ है। ईश्वरका बनाया है। यह जब शुभमें लगता है, तब शुभ हो जाता है और अशुभमें लगनेपर अशुभ हो जाता है। भगवान्‌में लगनेपर भगवदाकार हो जाता है। जैसे 'को' शब्द विशेष्य विघ्न हो अर्थात् किसीका विशेषण हो तो जिसका विशेषण होगा, उसीके लिंगका हो जायगा, ऐसे ही मन जिसमें लगता है, उसीके आकारका हो जाता है।

वेदान्त मतमें अच्छा, बुरा, उचितानुचित, हिताहित, धर्माधर्म, जितने संस्कार हैं, उन सबके धारणकर्त्ता मनीराम ही हैं।

वेदान्तका मत है—

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते॥

मन न कहीं बाहर है, न भीतर। यह संसार जैसा भास रहा है, वही मनका स्वरूप है। दुनियाँ कैसी? जैसा हमारा मन। हमारा मन कैसा? जैसी दुनियाँ हमें दीख रही है।

यहाँ जो वैदिक सूक्त है, वह मनमें परिवर्तन करनेका—मनको संस्कारित करनेका है।

हमारा मन कानमें बैठकर शब्द सुनता है, नेत्रमें बैठकर रूप देखता है, रसनामें बैठकर स्वाद लेता है, त्वचामें बैठकर स्पर्श जानता है, नाकमें बैठकर सूँघता है, हाथमें बैठकर काम करता है, पैरमें बैठकर चलता है, वाणीमें बैठकर बोलता है। यह सब इन्द्रियोंमें बैठकर जाग्रत रहता है और सब इन्द्रियोंसे पृथक् रहता है।

यदि हमें सत्य दिशामें अग्रसर होना है तो इस मतपर ध्यान देना होगा। इस मतको शिवसंकल्पमें–शुभमें लगाना होगा।

यजुर्वेदसंहितामें शिव–संकल्प–सूक्तके ये छः मन्त्र हैं। इनमें मनके

स्वरूपका वर्णन करते हुए प्रार्थना की गयी है कि हमारा मन शिव-संकल्प करे।

शिव शब्दके तीन अर्थ हैं—कल्याण, धर्म, परमात्मा।

शिवं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विधेयः।

—माण्डूक्योपनिषद्

शिव-संकल्पका अर्थ है कि हमारा मन कल्याणमय हो जाय। कल्याण-विषयक संकल्प। धर्मका संकल्प करे। परमात्माका संकल्प करे—परमात्म-चिन्तनसे पूर्ण हो जाय।

सं=सम्यक्+कल्प=कल्पना। सम्यक्त्वकी कल्पनाका नाम है संकल्प।

हम जब किसी वस्तुके विषयमें यह कहते हैं कि यह वस्तु सच्ची है, इसमें प्रकाश है, यह सुखद है, यह हमें मिल सकती है, तब उसे पानेका संकल्प होता है। संकल्प कामका बाप है।

जब हम सोचने लगते हैं कि वस्तुमें केवल कल्पनासे ही सुख नहीं है, वह सुखरूपमें प्रकाशित होती है, सुख उसमें अपना है—जैसे अंगूरमें स्वाद अपना है, जीभसे आया स्वाद नहीं है और उस वस्तुके पानेकी सम्भावना होती है, तब उसे पानेकी कामनाका उदय होता है।

वस्तुको सत्य मानना, उसमें प्रकाशकत्व मानना, उसे प्राप्त होने योग्य मानना, प्राप्त होने पर उसका उपभोग करना तथा उपभोगके समय उसके साथ तादात्म्यापन्न होना, ये पाँच बातें सङ्कल्पमें होती हैं।

हमारी सम्यक्त्वकी कल्पना शिवमें हो अर्थात् हम धर्मको ही सच्चा समझें। अधर्मको झूठा समझें; क्योंकि अधर्म चार दिनकी चमक है और धर्म स्थायी है। धर्मका विशेष गुण समझें कि वह हमें उन्नतिकी ओर ले जायगा। धर्म हमें आनन्द देगा। धर्मका हम अनुष्ठान कर सकते हैं। धर्मके फलके साथ हम तादात्म्यापन्न हो सकते हैं। ये पाँच बातें मनमें आ जायँ तो मन शिवसङ्कल्प हुआ।

श्रवण-मनन-निधिध्यासनसे ज्ञान होता है तो हम समझें कि

वेदान्तका श्रवण–मनन–निदिध्यासन सत्य है। यह आत्मतत्त्वके आवरणको भंग करके अविद्या निवृत्तिकर स्वरूप–साक्षात्कार करानेवाला है। ब्रह्मानन्द ही परमानन्द है। इसके सिवा सृष्टिके सारे आनन्द तुच्छ हैं। ब्रह्मके साथ आत्माका एकत्व–बोध हो सकता है। इसे स्वीकार करनेको कहेंगे शिवसङ्कल्प।

उत्तरमीमांसानुसार जितना–जितना ज्ञान होता हो वह परम ब्रह्म परमात्माका ही हो। पूर्वमीमांसानुसार धर्मके सम्बन्धसे ही हो। भक्तिके अनुसार आराध्यके विषयमें ही संकल्प हो, यह शिवसङ्कल्प है।

सत्ताकी प्रधानतासे धर्मका सङ्कल्प, चित्तकी प्रधानतासे ईश्वर–विषयक सङ्कल्प, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमप्रेमास्पद सम्बन्धसे आनन्दकी प्रधानतासे अज्ञान–निवारणका सङ्कल्प शिवसङ्कल्प कहा जायगा।

शिवसङ्कल्प–सूक्तके इन मन्त्रोंका त्रिष्टुप् छन्द है। मनोवैवर्चन अर्थात् मनदेवता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके सम्बन्धसे मन पञ्चधा और एक परमात्माका सम्बन्ध, इस प्रकार मन छः प्रकारका होता है, अतः छः मन्त्र मनके सम्बन्धमें हैं।

मननान्त्रायतेति मन्त्रः। जिसका मनन करनेसे हमारी रक्षा हो, उसे मन्त्र कहते हैं। मनके ये छः मन्त्र मनन करनेसे हमारे मनकी रक्षा करते हैं।

●

● पहले मन्त्रमें मनकी छः विशेषताएँ बतलाते हुए कहा जा रहा है कि देशमें फैलना—आना-जाना, विषयोंको प्रकाशित करना, यह मन ही है।

यह मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेदमें भी है।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमंज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ 1॥

जो जागते हुए पुरुषका दूर चला जाता है और सोते हुएका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान साधन है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान, सन्निकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंका एकमात्र ज्ञाता है तथा जो विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रोत्रादि इन्द्रियोंका एकमात्र प्रकाशक एवं प्रवर्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्-सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो।

यज्जाग्रत : संसारकी सब वस्तुओंकी पहचान मनमें ही होती है। भागनेका काम मन करता है और सोते समय लौटनेका काम भी मन करता है।

दैवम् =प्रकाशम् : परमात्माका ज्ञान भी मनमें ही होता है। मनको शुद्ध करके यदि श्रवण, मनन, निदिध्यासन करें तो—

मनसैवेदमाप्तव्यम्।
दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या....
मनसा गूढमग्रे।

आदि श्रुतियोंके अनुसार मनमें ही परमात्माका ध्यान-चिन्तन होता है और मिथ्याकल्पित अविद्याको दूर करनेकी सामर्थ्य मनमें ही है।

मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।

यह जो अप्रमेय निश्चल आत्मतत्त्व है, उसका मनसे ही दर्शन होता है। अतः मनको पहचानो।

1. जागनेपर यह अपनेसे दूर जाता है। जैसे पत्नी दिनमें बाजार जाती है, वैसे ही मनीराम भी बेटे-बेटी, परिवार-पदार्थ आदि संसार-चिन्तनमें जागते ही लग जाते हैं।

2. सोते समय ये अपने पास लौट आते हैं। सुषुप्तिमें आत्मासे एक होकर रहते हैं।

3. विषयको भी मन प्रकाशित करता है और परमात्मज्ञानको भी।

4. **ज्योतिषां ज्योतिरेकम् :** हमारे पास जो ज्योतियाँ हैं, गन्ध बतलानेको नाक, रस बतलानेको जीभ, रूप बतलानेको नेत्र, स्पर्श बतलानेको त्वचा, शब्द बतलानेको कान—ये ऐसी ज्योतियाँ हैं मानो भिन्न-भिन्न दीपक हों; किन्तु उनमें अग्नि एक ही है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न होनेपर भी मन एक ही है। मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें रहकर काम करता है।

अन्यमना अभवम्, नापश्यम्।
अन्यमना अभवम्, नाश्रृण्वम्।

'मेरा मन अन्यत्र था, अतः मैंने देखा नहीं, मेरा मन अन्यत्र था, अतः मैंने नहीं सुना।'

यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे।—भागवत 11.9.13

कोई लुहार बाण बना रहा था। किसीने उससे पूछा : 'क्या राजाकी सवारी इधरसे निकली?'

राजाकी सवारीमें हाथी-घोड़े, सैनिक थे। बाजे बज रहे थे; किन्तु लुहारका मन तो बाण बनानेमें लगा था। उसने कहा : 'मैंने नहीं देखा।'

जिस मनके अन्यत्र रहनेपर खुले नेत्र देख नहीं पाते, खुले कान सुन नहीं पाते, त्वचा छू नहीं पाती, नाक गन्ध नहीं ले पाती, भोजन कर रहे हैं; किन्तु मन अन्यत्र है तो स्वादका पता नहीं, ऐसा मन शिवसङ्कल्प होवे—शिवके विषयमें सङ्कल्प करे।

जब हम जागें और हमारा मन दूर हो जाय, तो परमात्माके संकल्पसे—धर्मके संकल्पसे भरकर दूर जाय। परमात्माके संकल्प भरकर दूसरेको प्रकाशित करे।

जब हमारा मन सोते समय पास लौटे, तो परमात्माको ले आये। इन्द्रियोंमें बैठकर मन जब बाह्य विषयोंको प्रकाशित करे, तो सर्वत्र अनेकमें एक परमात्माको देखे। यह शिवसंकल्प होगा।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति : किसी-किसीका मन स्थिर होता है, प्रायः लोगोंका मन चञ्चल ही होता है। जैसे पृथिवी जहाँ पाषाणरूप है, वहाँ स्थिर है और जहाँ कण-कण बिखरी है—रेत है, वहाँ डावाँडोल है। रेतके टीले कभी कहीं और कभी कहीं बनते हैं। पृथिवी तन्मात्रका गुण मनमें यह हो कि मन दृढ़ हो। यदि यह कण-कण बिखरा रहेगा तो अस्थिर होगा।

मनमें चञ्चलता कितनी है? जितनी वस्तुएँ तुम चाहते हो। इच्छाओंकी गणना मनकी गणना है। जैसे रेतके कण गिनना शक्य नहीं है, वैसे ही मनकी इच्छाओंको गिना नहीं जा सकता; किन्तु यदि पृथिवीका दृढ़तारूप गुण मनमें लायें तो मन दृढ़ हो जायगा।

मनमें जलका गुण है स्नेह-द्रवत्व। मनमें जो स्नेह है, यह जलसे आया है। यह दो प्रकारका है : 1. अन्तःस्थमें स्नेह और 2. बहिस्थमें स्नेह। इनमें-से बहिस्थमें स्नेह दुःखद होता है, क्योंकि उसमें पराधीनता है। स्नेह जब अन्तःस्थसे होता है तब दुःखद नहीं होता। उसमें पराधीनता नहीं है। वह सुखदायी है। ईश्वर अन्तःस्थ है। आत्मा अन्तःस्थ है। अतः मनके स्नेहका विषय जब ईश्वर या आत्मा होता है तभी शान्ति-सुख होता है।

मनके तेजः-तन्मात्रसे एक होनेपर उसमें दाहकता तथा प्रकाशकत्व आता है। राग-द्वेषका उदय होता है।

वायु-तन्मात्रसे मनके एक होनेपर चञ्चलता अथवा स्थिरता आती है। मनमें गति वायु-तन्मात्रका है। प्रेम और क्रोध दोनोंमें शरीर काँपता है, यह वायु-तन्मात्रका गुण मनमें है।

मनका शोकशून्य हो जाना या समाधिस्थ होना आकाश-तन्मात्राकी वृत्ति है। शोक आकाश-तन्मात्रकी वृत्ति मनमें रहती है। सम्पूर्ण विश्वको अपने में धारण करना भी आकाश-तन्मात्राकी वृत्ति है।

किसी दो वस्तुका प्रस्तार किया जाता है तो गणितकी रीतिसे, तीन और वेदान्तकी रीतिसे पाँच अवस्थाओंमें वह जाती है। जैसे : द्वैत और अद्वैत। इनका प्रस्तार किया तो 1. द्वैत, 2. अद्वैत, 3. द्वैताद्वैत, 4. द्वैतविशिष्ट अद्वैत, 5. अद्वैतविशिष्ट द्वैत। इसी प्रकार जड़-चेतनका प्रस्तार है: 1. जड़ ही जड़ है, चेतन तत्त्व नहीं है। 2. चेतन ही चेतन है, जड़ तत्त्व नहीं हैं। 3. जड़, चेतन दोनों तत्त्व हैं। 4. जड़, चेतन दोनों तत्त्व नहीं है। 5. जड़, चेतन दोनों एक हैं। पाँचकी संख्या माया और चेतनके इसी प्रस्तारसे आती है।

मनः आयतनम् : यह श्रुति छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों उपनिषदोंमें है।

यह हमारा मन आयतन है। जैसे आकाशमें वायु चलता है, सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र रहते हैं, जल बरसता है, पृथिवी घूमती रहती है, वैसे ही **इमे सर्वे लोकाः** ये सब लोक मनमें ही उत्पन्न होते हैं। मनमें ही रहते हैं। मनके अस्त होनेसे अस्त हो जाते हैं। जब आपका मन जागता है, तब संसार दीखता है। जब आपका मन सोता है, तब संसार नहीं दीखता। संसारका होना-न-होना मनके अधीन है या नहीं, यह बात छोड़ दो; किन्तु संसारका भासना, न भासना मनके अधीन है, यह बात प्रत्यक्ष है।

यह प्राथमिक स्थिति है। मन होता है, तब नानात्व, भेद भासता है। मन नहीं होता तब भेद नहीं भासता। इसका अर्थ है कि मनके अधीन भेदकी सत्ता हो या न हो; किन्तु भेदका भासना मनके अधीन है। इसलिए योगाभ्यास द्वारा जब मनको वशमें कर लेते हैं, तब संसार नहीं भासता। जब संसार नहीं भासता, तब इस न भासनेको ही वे परमार्थ मानते हैं। अतएव—

मनो वै योगः। मनः समाधिः।

सम्पूर्ण जगत्की प्रीति मनमें ही दफनायी जाती है। प्रतीतिकी समाधि, कब्र मन ही है।

पुंसोऽमुक्तस्य नानार्था भ्रमः सगुणदोषभाक्।

अमुक्तस्य=चञ्चलमनसः पुंसः जिस पुरुषका मन चञ्चल है, उसको नानात्वदर्शन होता है। जब मन चञ्चल नहीं होता—

न तत्र माता भवति न पिता भवति न देवा भवन्ति न वेदा भवन्ति।

माता-पिता, देवता-शास्त्र आदिका सारा सम्बन्ध मनकी जाग्रतावस्थामें ही भासता है।

मननात् मनः, मनो वै लोकः।

सम्पूर्ण जगत् मन ही है।

मनो वै ब्रह्म, मनो ब्रह्म इत्युपास्व।

बृहदारण्यक और छान्दोग्य दोनों उपनिषदोंमें मनका यह प्रसंग आया है।

ब्रह्मका ज्ञान आरोपविधया होता है। जैसे भगवन्नाम ब्रह्म है। ब्रह्म हर समय पाप-पुण्य दोनोंमें रहता है। भगवन्नाम हर समय पाप-पुण्य दोनोंमें लिया जाता है। ब्रह्ममें अन्यता बाधित है तो नाममें—

शुचिर्वा ह्यशुचिर्वापि सर्वावस्थां गतोपि वा।
य स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरो शुचिः॥

नामको जब ब्रह्म समझेंगे तब ब्रह्मको समझ-समझकर नाममें वे बातें देखेंगे। अतः वह नामरूपी प्रतीक ब्रह्मज्ञानका हेतु होगा। इसी प्रकार—

मनो ब्रह्म इत्युपासीत।

अब मनमें ब्रह्मत्व देखो—मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करो। मन ही पूर्व-पश्चिम, ऊपर-नीचे, बाहर-भीतरका सब भेद करता है, अर्थात् सब देश मन है। सब काल मन है। भूत, भविष्य, वर्तमान सब मन है। अपना-पराया, शत्रु-मित्र, कम-ज्यादा आदि सब भेद मन है। जितनी वस्तुएँ, इन्द्रियाँ, ज्ञान हैं, सब मन है।

मनः श्रोत्रं मनश्चक्षुः मनो रसनं मनो घ्राणम्।

मन ही कान, नेत्र, रसना, नाक, त्वचा है। जैसे देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म सम्पूर्ण देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म

सम्पूर्ण देश, काल, वस्तुमें व्याप्त है, वैसे ही देश, काल, वस्तुमें व्यापक है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म नहीं है। इसका अर्थ यह है कि मनके सहारे ब्रह्मको समझो। यह ब्रह्मको समझनेका साधन है।

नींदमें आपको कुछ भान नहीं हो रहा था। नींद टूट गयी, लेकिन अभी मैं कौन हूँ—कहाँ हूँ, कितने बजे हैं; यह प्रतीति नहीं है। अर्थात् देश, काल, व्यक्तिका ज्ञान उदित नहीं हुआ है। इस अवस्थाका चिन्तन कीजिये। जागते हुए ये चिन्तन कीजिये कि सुषुप्ति कैसी होती है? गाढ़निद्रामें क्या होता है? यदि आप ठीक-ठीक सुषुप्तिको ध्यानमें ला सकेंगे, तो आपकी समाधि लग जायगी। जाग्रत्-अवस्थामें मनमें सुषुप्त्याकारवृत्ति बन जाना ही समाधि है।

प्रकृति जो शरीरको विश्राम देती है, उसीका नाम सुषुप्ति है। हम अभ्यासजन्य जो विश्राम उत्पन्न करते हैं, उसका नाम समाधि है। यह पौरुषजन्य होनेसे पुरुषार्थ है। प्रकृतिजन्य होनेसे सुषुप्ति पुरुषार्थ नहीं है। निष्प्रयत्न होनेसे सुषुप्ति होती है और तदाकार वृत्तिकी गाढ़तासे समाधि होती है। जो पुरुषार्थ नहीं है, वह निष्फल है।

यदि सुषुप्तिका चिन्तन न करके सुषुप्ति ढूँढ़ने और जाग्रत्में आनेकी सन्धिका चिन्तन करेंगे, तो वह हिरण्यगर्भ (महत्तत्त्व)में स्थिति होगी। उस समय आप वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक आदि सबका दर्शन कर सकते हैं।

तीसरी अवस्था 'अहं' की है। मैं कौन हूँ, यह पता लगा। देश, काल और वस्तुएँ भासने लगीं; किन्तु शरीरका स्मरण नहीं हुआ। यह 'मैं' महेश्वर है।

यज्जाग्रत : जगनेसे पूर्व आप प्रकृति या ईश्वरमें स्थित थे। जड़वादी उसे प्रकृति कहते हैं; किन्तु सांख्य एवं योगकी दृष्टिसे उस समय प्रकृति निष्क्रिय थी और आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित था। उपनिषद्‌की दृष्टिसे वह प्रकृति नहीं, बीजविशिष्ट चैतन्य है—

तदा सति सर्वे सम्पद्यन्ते, न विदुः सति सम्पद्यामहे।

इसका अर्थ यह है कि उस समय अज्ञान रहता है। अज्ञानयुक्त सच्चिदानन्दमें स्थितिका नाम सुषुप्ति है अज्ञानरहित सच्चिदानन्दमें स्थितिका नाम ब्राह्मी स्थिति है। प्रीतिविशिष्ट आनन्दाभिव्यक्तियुक्त हिरण्यगर्भ या महत्तत्वमें स्थिति भक्तिस्थिति है। अहंमें स्थिति **अहं महेश्वरः** यह कश्मीरी शैववादकी स्थिति है।

मनमें ही ज्ञानमात्र ईश्वरकी प्रधानतासे समाधि है। संकल्पयुक्त ईश्वरकी प्रधानतासे हिरण्यगर्भ, वैकुण्ठादिमें स्थिति है। अहंकी प्रधानतासे अहंग्रहोपासना है। मनमें ही पञ्चतन्मात्राओंकी अभिव्यक्ति होती है।

आनन्दाभिव्यक्ति सुषुप्तिमें है। चैतन्यप्रधानाभिव्यक्ति महत्तत्त्वमें है। सत्प्रधानाभिव्यक्ति अहंकारमें है। यह सब मन ही है।

एतत् सर्वं मन एव।

सत्ताकी प्रधानतासे पञ्चभूत, चेतनकी प्रधानतासे अन्तःकरण आनन्दकी प्रधानतासे समाधि एवं सुषुप्ति है। मनमें सत्ता, ज्ञान तथा सुख तीनों हैं। यह सत्ता, ज्ञान तथा सुख—सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत् तीनों दशाओंमें है।

वेदान्तका एक नियम है : 'देखनेवाला अपनेसे भिन्न पदार्थको नहीं देखता।'

आपको यह बात उलटी लगेगी; क्योंकि सामान्य नियम है कि जो घटको देखता है, वह घटसे भिन्न है। लेकिन जो घड़ेको देखता है, उस देखनेवालेसे घड़ा भिन्न नहीं है। जैसे घड़ेसे मिट्टी न्यारी होती है; किन्तु मिट्टीसे घड़ा न्यारा नहीं होता।

आप गन्ध-ज्ञान नासिकाकी वृत्तिसे प्राप्त करते हैं। गन्धकी सात्त्विक तन्मात्रासे घ्राणेन्द्रिय बनी और तामस तन्मात्रासे गन्धप्रधान पृथिवी बनी। गन्ध-तन्मात्रावाली नासिका गन्धरूप विषयको ग्रहण करती है। नाकमें गन्ध-तन्मात्रा है, इसीलिए उससे गन्धका ग्रहण होता है। नेत्र रूप-तन्मात्र है, अतः स्पर्शको और श्रोत्र शब्द-तन्मात्र हैं, अतः शब्दको ग्रहण करते हैं। अर्थात् विजातीय पदार्थका ग्रहण नहीं होता। ग्रहण

सजातीय पदार्थका ही होता है। ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय ग्राह्यवस्तुकी सजातीय ही होती है। सत्ताकी प्रधानतासे ग्राह्य (पदार्थ) और चित्की प्रधानतासे ग्राहक (इन्द्रिय) एक ही सच्चिदानन्द बना है। व्यवहारमें सदंश ग्राह्य, चिदंस ग्राहक और आनन्दांश प्रिय बन रहा है।

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥

रूप दृश्य है, नेत्र द्रष्टा है। नेत्र दृश्य हैं, मन द्रष्टा है। मन दृश्य है, साक्षी द्रष्टा है। साक्षी दृश्य नहीं है। वह द्रष्टा ही है। अतः वह देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे सर्वथा असंस्पृक्त ब्रह्म है—यह वेदान्त बतलाता है।

जब द्रष्टा-दृश्य सजातीय ही होते हैं, तब मूल प्रश्न उठता है कि द्रष्टा क्या सचमुच दृश्य बन गया? द्रष्टाका दृश्याकार परिणाम हुआ?

द्रष्टा और दृश्यमें यदि कार्य-कारणभाव न हो तो अद्वितीयता नहीं होगी। यदि कार्य-कारणभाव हो तो द्रष्टाको परिणामी मानना पड़ेगा।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कार्य-कारणभाव दो प्रकारका होता है: 1. परिणामी, 2. विवर्ती। यह द्रष्टा जो ब्रह्म है, उसका स्वभाव देखना है और अपनी सीमा यहदेख सकता नहीं, अतः अपने अनन्त स्वरूपमें ही यह सान्तको, सादिको, एकमें अनेकको देख रहा है। इसका अर्थ हुआ कि यह सच्चिदानन्दघन आत्मा दृङ्मात्र है और दृश्य दृष्टिमात्र है। द्रष्टा बिना किसी परिणामको प्राप्त हुए ही दृश्यके रूपमें विवर्तित हो रहा है। अतः मनका स्वरूप है—

ज्योतिषां ज्योतिरेकम्।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप विषयों, इन विषयोंके आश्रयों (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) तथा इनके ग्राहक करणों (कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका) सबको प्रकाशित करनेवाली जो ज्योति है, वह ज्योति अनेक प्रकाशकोंमें भी एक प्रकाशक है। वह अनेकमें एक है और प्रकाशकोंमें प्रकाश है। अर्थात् इस अखण्ड प्रकाशमें प्रकाश्यकी अनेकता बाधित है। प्रतीत होते हुए भी मिथ्या है।

जाग्रतो दूरम् उत आ एति।

जागते ही मनीराम दूर जाकर चमकने लगते हैं। दूरम्=अन्य पदार्थमें।

तदु सुप्तस्य तथैवैति : जो मन जागते समय दूर अन्य पदार्थमें चला जाता है, वही सोते समय लौटकर आ जाता है।

हमारी इन्द्रियाँ, वृत्तियाँ, मन, बुद्धि पत्नीके समान हैं। ये संसारभरसे सुख जुटाते हैं। कान शब्दसे, त्वचा स्पर्शसे, नेत्र रूपसे, रसना स्वादसे, नासिका गन्धसे स्वाद ले आती है और ये सब ला-लाकर सुख आत्मदेवको अर्पित करते हैं—अन्तर्यामीको सुखी करते हैं। सोते भी आत्मदेवके साथ हैं।

मनका नियम है कि अन्य पदार्थको देखे चाहे जितना, जाय चाहे जहाँ; किन्तु लौटकर सोयेगा आत्मामें ही। **दूरं-गम** होनेपर भी यह **सुप्तस्य तथैवैति** सोनेके समय आश्रयमें ही लौट आता है।

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।

ऐसा हमारा यह मन दूर भले जाय, पर वहाँसे धर्म लेकर आये। ईश्वरको, भलाईको लेकर वहाँसे लौटे।

● दूसरे मन्त्रमें बतलाते हैं कि केवल देशमें आना-जाना और विषयको प्रकाशित करना ही मनका काम नहीं है। सामान्य और विशेषका जो ज्ञान होता है, वह मन ही है। यहाँ तक कि प्रज्ञानाभिन्न जो ब्रह्मका ज्ञान होता है, वह ज्ञान भी मन ही है।

येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ 2॥

कर्मनिष्ठ एवं धीर विद्वान् जिसके द्वारा यज्ञीय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके यज्ञमें कर्मोंका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियोंका पूर्वज अथवा आत्मस्वरूप है, जो पूज्य है और समस्त प्रजाके हृदयमें निवास करता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो।

इस मन्त्रमें मनके सम्बन्धमें नौ बातें कही गयी हैं। पहली बात है कि मनके द्वारा ही यज्ञ किया जाता है।

यज्ञ शब्दका अर्थ संसारके व्यवहारसे पृथक् वस्तु नहीं है। ये वृक्ष-लता-तृण यज्ञ कर रहे हैं। ये अपने फूल-फल, पत्ते, डाल-छाल, गोंद-रस, काष्ठ-जड़, अंकुर, छाया, बीज तथा अपनी भस्मतकसे दूसरोंकी भलाई कर रहे हैं। वृक्षोंके द्वारा यह जो स्वयं लोककल्याण हो रहा है, यह यज्ञ है। वृक्ष यज्ञमें स्थित हैं।

पृथिवी जो एक बीजका पचास बनाकर लौटाती है, यह पृथिवीका यज्ञ है। दान, आदान,उत्सर्ग—सब यज्ञ है। दूसरोंको कुछ देना, दूसरोंसे कुछ लेना, जीवनको नियमित बनाना, श्रुत्यर्थकी शिक्षा देना, अन्यको प्रसन्न करना यज्ञ है।

जलका रस देना, सूर्यका प्रकाश देना, वायुका प्राण देना, आकाशका सबको धारण करना, यह सब यज्ञ है। विराट् विश्व इस प्रकार यज्ञ कर रहा है।

हम जो जीवनमें अतिशय संग्रही हो गये हैं, हमें लेना आता है पर देना नहीं आता, इसे त्यागकर वितरणकी पद्धति सिखलाना यज्ञका काम है। मनुष्यके उपार्जनमें पशु-पक्षी-पृथिवी-जलादि सबका भाग होता है। अतः पुष्प, चन्दन जो पृथिवीके भाग हैं, इनसे पृथिवीकी पूजा होती है। जलका भाग है दूध, अतः दूधसे जलकी पूजा होती है। आहुति देकर अग्निकी पूजा होती है। यह है—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

अपने जीवनमें हम विश्व-समष्टिसे बहुत-सी वस्तुएँ ग्रहण करते हैं। ऐसे ही उसे देना यज्ञ है। जिस जीवनमें यज्ञ नहीं है, वह जीवन मलिन है।

विदथेषु यज्ञेषु हविः सु सत्सु।

यदि अपने पास अन्न है तो अन्नदान करो। जल है तो जलदान, प्रकाश है तो प्रकाशदान, विद्या है तो विद्यादान करो। जो है, उसका दान

करो। ईश्वरने तुम्हें जो सामग्री दी है, उसीके द्वारा सेवा करोगे, तब यज्ञ होगा।

सेवा वस्तुके द्वारा, कर्मके द्वारा, वाणी द्वारा, भाव द्वारा, बुद्धि द्वारा होती है। अपने अहङ्कारका आग्रह त्याग देना भी सेवा है। अपने भोग और आनन्दका त्याग करके सेवा—यह यज्ञ है।

यज्ञका अर्थ है, देवपूजा, संगतिकरण और दान। **इज्यते भगवाननेन इति यज्ञः** जिससे भगवान्‌की आराधना होती है, वह यज्ञ है। पहले इसे धर्म कहते थे।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

अतः यज्ञमें स्थिर होकर कर्म करना चाहिए। हम कर्म चाहे जितने करें, पर वह सब यज्ञके लिए हों। यहाँतक कि हमारा मलमूत्रोत्सर्ग भी यज्ञके लिए हो। हम शौच जाये, स्नान करें तो वह भी विराट्‌की आराधनाके लिए हो। हमारे शौच जाने, मूत्रोत्सर्ग करने, स्नानसे धरती, पानी, वायु गन्दे न हों। किसीको दुर्गन्धि न मिले, यह सावधानी यज्ञ है। विराट् समष्टिको दूषित करके भगवत्सेवा नहीं होती।

मनुष्य यज्ञमें मनसे कर्म कर सकता है। **येन मनसा कर्माणि कुर्वन्ति** उसी मनको जो खुला छोड़ देते हैं, उनका मन चञ्चल हो जाता है। मनको व्यवस्थित करके एक कर्ममें लगाना चाहिए। व्यवस्थित मनसे ही शुद्ध कर्म, शुद्ध भोग, शुद्ध संग्रह तथा शान्तिका अनुभव होता है। परमात्माका दर्शन, आत्मस्थित एवं आत्मा-परमात्माका ऐक्यबोध व्यवस्थित मनसे ही होता है।

यज्ञमें सामग्रियोंसे कर्म करनेके लिए जीवनमें तीन बातें होनी चाहिए। ये तीन बातें मनके सम्बन्धमें हैं—**अपसः मनीषिणः धीराः**। यह एक स्वस्थ मनुष्यका लक्षण है—

1. वह कर्मके प्रवाहमें बह न जाये।

2. मन उसके वशमें हो।

3. कर्तव्य-पालनके समय या अपनी निष्ठामें अथवा इष्ट-चिन्तनके समय कोई भी कष्ट आवे तो उसे वह सहन करे।

जिसमें द्रव्य, कर्म, संग्रह और भोग इन चारोंमें बह जानेसे अपनेको रोकनेकी शक्ति नहीं है, वह मनस्वी नहीं है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

—गीता 2.67

इन्द्रियोंके व्यवहार करते समय जिसका मन उनके पीछे-पीछे चलता है, इन्द्रियाँ उसकी बुद्धिको वैसे हरण कर लेती हैं, जैसे समुद्रमें नौकाको वायु।

पशु आगे-आगे चरते चलते हैं। जब वे अपने या दूसरेके खेतमें जो उनके स्वत्वका नहीं है मुँह मारने लगें तो चरवाहेमें उनको रोकनेकी सामर्थ्य होनी चाहिए।

कर्मवन्तः कर्म करते समय ऐसी कोई वस्तु हमारे पास नहीं आनी चाहिए जो हमारे स्वत्वकी नहीं है।

एक कथा है—एक राजाकी नींद रात्रिमें खुल गयी। नींद फिर नहीं आयी तो वे राजभवनकी छतपर टहलने चले गये। वहाँसे देखा कि खजानेमें प्रकाश दीख रहा है। रात्रिमें खजानेमें प्रकाश देखकर उन्हें शंका हुई। वहाँ गये तो देखा कि खजाञ्ची बही-खाते फैलाये हिसाब करनेमें जुटा है। राजाने कहा—'इतनी रात्रि तक तुम हिसाबमें क्यों लगे हो?'

खजाञ्ची—'हिसाब ठीक मिल नहीं रहा है।'

राजा—'कितना कम होता है? उसे हम पूरा कर देंगे।'

खजाञ्ची—'कम नहीं होता है। कम होता तो उसको कल देखता। बढ़ रहा है। पता नहीं किस गरीबका भाग भूलसे आ गया है। इसे इसी समय पृथक् कर देना आवश्यक है, अन्यथा उसकी हाय राज्यको बहुत हानि पहुँचावेगी।'

जब मन वशमें होगा तब कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ भी वशमें होंगी। क्योंकि कर्मका प्रेरक मन है।

यदिच्छति तत्करोति।

पहले इच्छा होती है, तब कर्म होता है। यदि बिना इच्छाके कोई कर्म हो जाय, जैसे नींदमें खटमल हाथ लगनेसे मर जाय तो उस कर्ममें कोई पाप-पुण्य नहीं होता।

मनका प्रेरक बुद्धि है। हम कब इच्छा करते हैं? जब उस कर्म या वस्तुसे सुख मिलनेकी बुद्धि होती है। जब उस कर्मसे दुःख मिलनेकी बुद्धि होती है, तब उसे नहीं करते हैं। करने-न-करनेका निर्णय बुद्धिसे होता है। इच्छाका नियन्त्रण बुद्धि करती है। यही मनीषा है। **मनषः ईशा** मनको प्रेरित करनेवाली।

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।—केनोपनिषत्

किसके द्वारा प्रेरित होने—भेजे जानेपर मन विषयोंमें जाता है? वही मनीषा—बुद्धि है।

जब हम ज्ञानेन्द्रियोंसे विषयका ग्रहण करते हैं—तब ग्रहण करके उन्हें समन्वित करते हैं। जैसे सुन्दर दृश्य देखनेकी इच्छा हुई तो मनने कहा—'जुहू चलना चाहिए।'

अब जीभने कहा—'खीर खा लो तब चलो।'

दोनों इच्छाएँ मनकी तृप्तिके लिए हैं; परन्तु यह जो समन्वय हुआ कि पहले खा लो तब चलो, यह दोनों इच्छाओंका एक स्वामी होनेसे हुआ।

जैसे एक इच्छा हुई—'यहाँ अपना लाभ है, अतः यहीं रहो।'

दूसरी इच्छा हुई—'वह शत्रु आ रहा है, भागो।'

इन दोनों इच्छाओंका समन्वय होगा, तब काम होगा। यह काम बुद्धि करेगी। इन सब विचारोंका संस्कार जिसमें रहता है, उसे चित्त कहते हैं।

संज्ञानं विज्ञानं आज्ञानं प्रज्ञानमिति एतत्सर्वं प्रज्ञानस्यैव नामधेयानि भवन्ति। एतत् सर्वं मन एव।

श्रद्धा, अश्रद्धा, घी आदि सब मन ही हैं। मनके चार विभाग विचारकोंने किया है। एक विभागमें पञ्चतन्मात्रा-सम्बन्धी—पञ्चकर्मेन्द्रिय-सम्बन्धी ज्ञान है। दूसरा विभाग इन इन्द्रियोंके बिना भी भीतर ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तीसरा विभाग इनको समन्वित करता है और चौथा समन्वित रीतिसे औचित्य-अनौचित्यका निर्णय करता है और इन सबके संस्कारोंको अपनेमें रखता है।

मनके विभाग करनेमें मतभेद हैं। वैष्णव और सांख्य मनके तीन ही भेद मानते हैं—मन, बुद्धि और अहंकार। वेदान्ती अन्तःकरणचतुष्टय मानते हैं।

निर्णयात्मिका बुद्धि है। पञ्चतन्मात्राके ग्रहण-अग्रहण एवं तद्विषयक कर्मसे संस्कारसे संस्कृत संकल्पनात्मक मन हैं। मनकी वृत्तियोंको जो समन्वित करके धारण करता है और अकेला रहता है, वह अहं है। जो प्रकृतिके स्तरपर है, प्रति शरीर पृथक्-पृथक् है, वह चित्त है।

आत्मा द्रष्टा है, यह सांख्य और योगका मत है।

आत्मा कर्त्ता है, यह न्याय और वैशेषिकका मत है।

आत्मा न कर्त्ता है, न परिच्छिन्न द्रष्टा है, वह अखण्ड ब्रह्म ही है, यह वेदान्तका मत है।

धीरा : धीर हुए बिना हम कर्मवान् हो नहीं सकते। इसमें बुद्धिके निश्चयमें ही बाधा आती है। जिनके जीवनमें कष्ट सहन नहीं है, वे न कर्मवान् हो पाते और न बुद्धिके निश्चयपर दृढ़ रह पाते। अतः पहली बात है कि जीवनमें कष्ट-सहनका सामर्थ्य होना चाहिए।

दूसरी बात है कि मनको दिशा-निर्देशका सामर्थ्य बुद्धिमें हो।

तीसरी बात यह है कि अपने निश्चयके अनुसार कर्मको कार्यान्वित करनेका अपनेमें सामर्थ्य हो।

धीराः मनीषिणः कर्मवन्तः।

जो धीर हैं, मनीषी हैं, कर्मवान् हैं, वे यज्ञ करते हैं।

यदपूर्वं यक्षमन्तः।

तुम्हारे भीतर एक अपूर्व यक्ष है। श्रुतिने उसके सम्बन्धमें कहा—

अपूर्वमनन्तरमबाह्यम्........

उपनिषद्में एक कथा है कि जब देवासुर-युद्धमें देवता विजयी हो गये, तब इन्द्रको गर्व हो गया कि हमने अपनी शक्तिसे विजय प्राप्त की है। उस समय देवताओंके सामने एक यक्ष प्रकट हुआ। देवताओंमें उत्सुकता हुई कि यह कौन है? पता लगानेके लिए अग्निदेव भेजे गये। पास जाकर अग्निने पूछा—'तुम कौन हो?'

यक्ष—'तुम कौन हो?'

'मैं अग्नि हूँ।'

यक्ष—'तुम्हारी क्या शक्ति है।'

अग्नि—'मैं सम्पूर्ण लोकोंको जला सकता हूँ।'

यक्षने एक तृण समाने रखकर कहा—'इसे जलाकर दिखाओ।'

अग्निने सब प्रयत्न कर लिया; किन्तु वह तृण नहीं जला तो वे लज्जित होकर लौट गये। तब वायुदेव भेजे गये। उनसे भी वही प्रश्नोत्तर हुआ। वायुने जब बतलाया कि सब ग्रह-नक्षत्रोंको वे उड़ा सकते हैं तो यक्षने उनके सामने भी वही तिनका रख उसे उड़ा देनेको कहा। वायु उस तिनकेको उड़ानेमें असमर्थ हो गये और वे भी लज्जित होकर लौट गये।

अन्तमें इन्द्र पता लगाने गये तो यक्ष अदृश्य हो गया। इन्द्रके सामने उमा हैमवती ब्रह्मविद्या प्रकट हुई।

वह यक्ष कौन था?

वह यही मन है जो यक्षरूप विराट्, मायाविशिष्ट चैतन्य होकर सामने आता है।

येन कर्माण्यपसो : कर्म करनेसे जीवनमें रसकी उत्पत्ति होती है। कर्म नीरस नहीं होता। अतः 'अप्' शब्द कर्मके अर्थमें है, जो कर्म बार-बार किया जाता है, उससे चित्तमें एकाग्रता आती है। उससे रसका आविर्भाव होता है।

एकबार महात्मा गाँधीजीने महामना मालवीयजीसे श्रीमद्भागवतका श्रवण किया। श्रवण करके बोले—'आज मुझमें धर्मरस उत्पन्न हुआ।'

कर्ममें रस तब आता है, जब उसमें सहज प्रवृत्ति होती है। इसीसे वेदमें कर्मका एक नाम 'अप्' भी है। अप्का अर्थ है जल। वेद एवं लोकमें सर्वत्र अप् शब्द बहुवचनान्त ही है। इसका एक वचन, द्विवचन नहीं होता। इसका रूप चलेगा—

आपः अद्भिः अदभ्यः....

यह इसलिए कि जलकी बूँदें पृथक्-पृथक् होती हैं। इसी प्रकार कर्मके कण भी पृथक्-पृथक् होते हैं।

येन अपसः येन मनीषिणः येन धीराः सन्तः।

यहाँ येनका अर्थ है—मनसा। मन ही मनुष्यको कर्ममें लगाता है। मनमें जब कोई संकल्प होता है, तब कर्म होता है।

सङ्कल्प अर्थात् सम्यक्त्वकी कल्पना कि यह वस्तु अच्छी है, मिलनी चाहिए, होगी तब कर्म होगा। जो इच्छा करके भी कर्म नहीं करता, वह तो ढोंगी है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ गीता 3.6

कर्मेन्द्रियोंसे तो काम लेता नहीं, उन्हें तो रोक रखा है; किन्तु मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता है, वह मूर्ख है। उसे ढोंगी कहा जाता है।

आलसी होना तो तमोगुणी होना है। मनुष्यको सङ्कल्प करना चाहिए कि हम मनीषी हो जायँ। कर्म करनेमें बुद्धिकी आवश्यकता है। मनकी नियन्तृ बुद्धि है।

बुद्धिर्मनीषाधिषणः।

बुद्धि होनेके साथ मनुष्यको धीर होना चाहिए। भगवानने गीतामें अर्जुनसे कहा—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥–2.14–15

अर्जुन! सुख और दुःख देनेवाले तन्मात्राओंके स्पर्श सर्दी–गर्मी आदि आने–जानेवाले एवं अनित्य हैं, इनको सहन करो। पुरुषश्रेष्ठ! जिस पुरुषको ये व्यथा नहीं दे पाते, वह सुख–दुःखमें समान रहनेवाला धीर अमृतत्वको प्राप्त करता है।

धत्ते मनांसि इति धीरः।

जो अपने मनको पकड़कर रख सकता है उसका नाम धीर है।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।—श्रुति

अतः स्वस्थ जीवनके लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

1. मनुष्य आलसी न हो, कर्मवान् हो।
2. वासनाके प्रवाहमें बहनेवाला न हो, मनीषी हो।
3. उसमें दुःख एवं विघ्नोंको सहन करनेका सामर्थ्य हो।

एक चौथी बात भी है कि जैसे सूर्य अपना प्रकाश बिखेरता है, जैसे चन्द्र अपनी ज्योत्स्ना बहाता रहता है, वैसे ही अपने पास जो समाग्री हो उससे—

यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु

'विद्' धातुको प्रत्यय होकर यह **विदथेषु** बना है। इसका अर्थ होता है—**बहुषु ज्ञानेषु** अर्थात् बहुत–सी सामग्री जो–जो तुमको ज्ञात हो उस सबको विश्वेश्वरकी सेवामें लगाओ।

तुम चलो किसीकी भलाईके लिए। तुम हाथ हिलाओ किसीकी भलाईके लिए। तुम बोलो किसीकी भलाईके लिए। तुम देखो किसीकी भलाईके लिए। इसीका नाम यज्ञ है।

एक महात्माने कहा—'यदि तुम्हारे जीवनमें दुःख आवे तो उसे अस्वीकार कर दो।'

मैंने पूछा—'दु:खको कैसे अस्वीकार करें?'

वे बोले—'मैं दु:खी हूँ, यह अभिमान मत धारण करो।'

दु:ख आता है प्रारब्धसे; किन्तु टिकता है हमार पकड़से। इसी प्रकार सुख आवे तो उसे पास मत रखो, बाँटो। मेरा अपना एक अनुभव है—मेरे पास कुछ लेनेवाले कभी-कभी आते हैं। जिस दिन किसी योग्य पात्र—सत्पुरुषको दस रुपये दिये जाते हैं, उसी दिन शामतक वे दस रुपये या तो लौट आते हैं, या कई गुने होकर लौटते हैं।

आपको ऐसा अनुभव भले न हो; किन्तु यह दिया हुआ कभी व्यर्थ नहीं जाता। किसीके पास देरसे लौटता है, किसीके पास तुरन्त लौटता है।

अग्निमें हवनके समान ही भूखेके मुखमें भोजनका हवन, रोगमें ओषधिका हवन, मूर्खमें ज्ञानका हवन, यह सब यज्ञ है।

एवं बहु विधा यज्ञाः वितता ब्रह्मणो मुखे।

ब्रह्म (वेद) के मुखमें बहुत-से यज्ञ हैं। भगवान्‌ने अपनी आराधनाके लिए विश्वको माध्यम बनाया है—**तेनैवायजमीश्वरम्** ईश्वरके अंगसे ही ईश्वरकी आराधना होती है।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजासु

प्रजायन्तेति प्रजा : प्रजामें ब्राह्मण-अन्त्यज, भारतीय-अभारतीय, काला-गोरा आदि भेद नहीं है। पशु-पक्षी, मनुष्यादि भेद भी इसमें नहीं है। एक कीड़े और तृणमें अन्तर नहीं है। विषय संवृत्त होनेपर यही जीव है। विषयसे तादात्म्य हो जानेपर यही जड़ है।

शुद्ध होनेपर यही यज्ञ उमा हेमवती ब्रह्मविद्याके रूपमें प्रकट होता है। यह मा=प्रमा है।

ऐसा हमारा मन शिव-सङ्कल्प होवे। मनमें जितनी बातें हैं, सब बाहरसे डाली जाती हैं। भीतरसे निकला मनमें कुछ नहीं है। सत्यका अनुभव मनमें संसारकी वस्तु आनेसे या न आनेसे भी नहीं होता। अतः मनमें भगवदाकार-वृत्ति या ब्रह्माकार-वृत्ति श्रवणादिके द्वारा डालनी पड़ती है।

भगवदाकार-वृत्ति मनमें शहद डालनेके समान है और ब्रह्माकारवृत्ति पानीमें निर्मली डालनेके समान है। उससे मैल कट गया तो अपने आपको ब्रह्मस्वरूपका अपरोक्ष हो गया।

● पहले मन्त्रमें देश-कालको मन कहा। अब दूसरे मन्त्रमें सामान्य और विशेषके ज्ञानको अर्थात् पदार्थको मन कहकर, दो मन्त्रोंमें दृश्य जगत्को मन कहा। अब तीसरे मन्त्रमें कहते हैं कि दृश्यसे उपरत होना भी मन ही है। योग और भक्ति भी मन ही है। मनके बिना कोई काम नहीं होता।

जब हम समझते हैं कि मैं अथवा अमुक व्यक्ति बिना मनके अमुक काम करता है, तब उसमें भी थोड़ा मन होता ही है।

धर्माधर्मकी उत्पत्ति बिना मनके किये कर्ममें नहीं होती। कर्म बनता ही तब है, जब कर्मके साथ हमारा मन जुड़ता है। जैसे अनजानमें जेबसे पैसा गिर गया और वह गरीबको मिल गया तो उससे तुम्हें दानका फल नहीं मिलेगा।

जितने साधन हैं—ज्ञानात्मक साधन, वृत्ति-निरोधात्मक साधन, भावात्मक साधन या कर्मात्मक साधन ये सब मनके द्वारा ही होते हैं। बिना मनके कोई साधन नहीं होता।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जयोतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पस्तु॥ 3॥

जो विशेष प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य ज्ञानका कारण है, जो धैर्यरूप है, जो समस्त प्रजाके हृदयमें रहकर उनकी समस्त इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है, जो स्थूल शरीरकी मृत्यु होनेपर भी अमर रहता है और जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो।

यत्प्रज्ञानं : प्रकर्षेण ज्ञायते अनेनेति प्रज्ञानं-विशेषप्रतिपत्तिः प्रज्ञः।

जिससे हम वस्तुओंके पार्थक्यको ठीक-ठीक समझते हैं, वह प्रज्ञान है।

चेत : सामान्यरूपसे जिससे हम सचेत हैं।

एक मनुष्यने एक स्थानपर लाल रंगके घड़े देखे, एक स्थानपर सीमेण्टके रंगके, एक स्थानपर काले रंगके। वह समझ नहीं पाता कि सब घड़े हैं। उसका ध्यान रंगपर है। किसीने उससे कहा : 'पानी ही तो भरना है, किसी रंगका घड़ा ले लो।'

विशेष-विशेष रूपमें घड़ोंको पहचानना प्रज्ञान है और एक घटत्व जातिको पहचान लेना चेत हैं। श्रुतिमें है :

प्रज्ञानं ब्रह्म

यहाँ प्रज्ञानका अर्थ है : **प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानम्। प्रकृष्टं विशेष्यरहितम्।** विशेषतासे रहित ज्ञान प्रकृष्ट ज्ञान है और उसीका नाम प्रज्ञान है।

जलमें मिट्टी मिल गयी तो जल शुद्ध नहीं रहा। ऐसे ही जब हमारे ज्ञानमें संसारका कोई विषय मिल गया तो शुद्ध नहीं रहा। ज्ञानमें 'यह' और 'मैं' दोनों न रहे तो ज्ञान शुद्ध है। ज्ञानमें 'यह' मिलता है तो ज्ञानको जड़ एवं दृश्य बना देता है और 'मैं' ज्ञानमें मिलता है तो ज्ञानको टुकड़े-टुकड़े कर देता है। सब दुःखोंकी जननी यह अहंता ही है। अतः ज्ञानको ज्ञातृ-ज्ञेय भेद-वर्जित अद्वय करो। ज्ञातापनेका 'अहं' और अज्ञेयपनेका 'इदं' दोनों नहीं रहेगा, तब श्रुति कहेगी :

प्रज्ञानं ब्रह्म।

यह निर्विषय और निरहं ज्ञान ब्रह्म है। इसमें 'इदं' न होनेसे देश, काल नहीं है और 'अहं' न होनेसे परिच्छिन्नत्व नहीं है। जहाँ 'यह' होगा, वहीं देश-काल होगा।

चेत : चाहे कर्म हो या धर्म, योग हो या वियोग, ज्ञान हो या भक्ति जब साधक जिज्ञासु होता है, तब उसे लक्ष्य एवं आलम्बन दोनोंकी आवश्यकता होती है।

जिन्हें कहाँ पहुँचना है, किस माध्यमसे पहुँचना है, यह पता नहीं है और वे कर्म, उपासना या विचारमें लग जायँगे तो वे पथभ्रष्ट हो जायँगे। अतः अधिकारी और कर्मकी विधि जाननी चाहिए। सवारियोंको

चौराहेपर मार्ग-निर्देशकी विधि होती है। सरकार द्वारा नियुक्त पुलिसका आदमी ही यह कर सकता है। अब यहाँ दस व्यक्ति खड़े हो जायँ और दस तरह हाथ हिलाने लगें तो मोटर कहाँ जायगी?

उपासनाके मार्गमें उपासनाके आचार्यो द्वारा बतलायी सात बातें अपनाना आवश्यक है—

1. विवेक अर्थात् आहार शुद्धि। 2. विमोक अर्थात् जो अपनेको ही बुरा लगता हो उसका त्याग। 3. अभ्यास—जिस बातका हम अभ्यास करते हैं, वह हमारे जीवनमें रच-पच जाती है। 4. क्रिया—अभ्यास डालनेके लिए वैसा कर्म बार-बार करना पड़ता है। 5. कल्याण अर्थात् कल्याणकारी वस्तुओंका सेवन। जैसे माला, चन्दन-तुलसी आदि। 6. अनवसाद अर्थात् अप्राप्तिसे ज्यादा दुःखी न होना। 7. अविहर्ष अर्थात् संसारके विषयोंकी प्राप्तिसे ज्यादा हर्ष न करना।

ये सुख-दुःख मनको चंचल कर देते हैं। भक्तिके मार्गमें चलना है तो तुलसीकी गन्ध, चरणामृत, भगवत्-मूर्ति, भगवत्सेवा, भगवद्गुणानु-वादमें प्रीति होनी चाहिए। अपने सुख-दुःखपर कम ध्यान देना चाहिए।

आपको विचारके मार्गमें चलना है तो विचारके लिए भी आलम्बन चाहिए। विचारके भी स्तर हैं। इसमें तीन प्रकारके आलम्बन होते हैं— 1. अहमात्मक आलम्बन, 2. इदमात्मक आलम्बन, 3. प्रतीकात्मक आलम्बन।

विश्व, तैजस, प्राज्ञ ये ब्राह्मत्मैक्य-बोधमें अहमात्मक आलम्बन हैं। आप पहले अपनेको विश्वके रूपमें जानो, फिर तैजसरूपमें, फिर प्राज्ञ और फिर तुरीय। यदि क्रमसे नहीं जानोगे तो अपनेको तुरीय कहना केवल कथनमात्र हो जायगा।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थामें इदनात्मक आलम्बन हैं।

प्रतीकात्मक आलम्बन अकार, उकार, मकार हैं।

इसी प्रकार पञ्चकोश-विवेक आलम्बन है कि इन सबमें साक्षी एक है। इसी आलम्बन क्रमको 'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थका शोधन कहा

जाता है। निरालम्ब-भाव स्थायी नहीं होता। निरालम्ब-विचार तो विचार ही नहीं है।

आपको केवल शान्ति प्राप्त करना है तो भय, राग-द्वेष छोड़ दीजिये और अस्मिताका भाव न हो तो शान्ति मिल जायगी, लेकिन इससे आपकी परिच्छिन्नता नहीं मिटेगी। शान्तिसे अज्ञान नहीं मिटता।

प्रज्ञानं : ज्ञान विचार है, चेतो योग है और धृति भक्ति है। चित्तवृत्तिका निरोध-अनुरोध दोनों चेतस हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा चित्तका अनुरोध है। समाधि चित्तका निरोध है।

प्रज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा डाली भेद-भ्रान्तिका निवारण अध्यारोप-अपवादके द्वारा, साधन-साध्य भावसे ही होता है।

धृतिका अर्थ है शुभ वृत्तिकी श्रद्धापूर्वक धारणा।

यज्ज्योतिरमृतम् : यह ज्योति अमृत है। विषय नष्ट हो जाते हैं, इन्द्रियाँ मर जाती हैं, देह मर जाता है, पर यह मरता नहीं।

यस्मान्न कृते किञ्चन कर्म क्रियते : यह कर्म-साधना है। मनके बिना कोई काम हो नहीं सकता।

भौतिकवादी कहते हैं कि ज्ञानका फल कर्म है। अध्यात्मवादी कहते हैं कि कर्मका फल ज्ञान है। अवादमें न कर्म है, न ज्ञान। तत्त्वमें न बाध है, न अबाध।

मनमें देश, काल, वस्तुएँ हैं। मन ही ज्ञान, योग, भक्ति एवं कर्मका आधार है। बात इतनी ही नहीं है, मनकी महिमा इससे भी बहुत बड़ी है। श्रुति अब उसे बतलाती है—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ 4॥

'जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत, वर्तमान, भविष्यसम्बन्धी सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं, और जिसके द्वारा सात होता वाला अग्निष्टोम

यज्ञ सम्पन्न होता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो।'

येनेदं भूतम् : तुम्हारे मनमें एक भूत रहता है। प्राचीन संस्कृतिका प्रेम भूतके प्रति राग है। वर्षों पहले मरेकी याद करके रोते हो। यह अनादि भूत मन ही है। भूतकाल कब प्रारम्भ हुआ, यह नहीं सोचा जा सकता। भविष्य अनन्त होता है।

भुवनम् : यह सब सृष्टि—वर्तमानमें जो कुछ भासता है या भविष्यके लिए जो भी कल्पना होती है, वह सब मन है।

श्राद्ध और यज्ञ देहातिरिक्त आत्माके प्रति आस्था उत्पन्न करनेके लिए हैं। अवतार और मूर्तिपूजा 'तत्'-पदार्थके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिए हैं। ऋषि-पूजा साधनमें श्रद्धा बनानेके लिए है कि साधन करके ये महान् हुए तो साधन करके हम भी महान् बनेंगे। साधना साध्यके अपरोक्षमें दृढ़ता लानेके लिए है। अवस्थात्रयका एवं पञ्चकोशका विवेक अन्तर्मुख बननेके लिए है। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान केवल महावाक्यसे होता है।

यह प्रतीयमान प्रपञ्चका भूत, भविष्य, वर्तमानरूप कालचक्र तुम्हारे मनमें है।

पहले कहा—**यज्जोतिरमृतं प्रजासु** अब कहते हैं—**परिगृहीतममृतेन सर्वम्** इसका अर्थ है कि यह बात महत्त्वपूर्ण है। जो बात बार-बार कही जाय, उसे बहुत महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। निरुक्तका कहना है—

अभ्यासेन भूयांसमर्थं मन्यन्तेऽर्थार्थिकाः।

मन अमृत है। उसमें विष बाहरसे डाला जाता है। जितना दुःख, शोक, भय है, सब बाहरसे गया है।

ईश्वर दृश्यका नियन्ता है, द्रष्टाका नियन्ता नहीं है; किन्तु जब तुम दृश्यसे तादात्म्य कर लेते हो तब ईश्वर तुम्हारा नियमन करने लगता है। तुम द्रष्टा भले बने रहो; किन्तु तुम्हारे शरीरका नियन्त्रण ईश्वर करता है। वह उसमें रोग भेज सकता है। वेदान्तमें ईश्वरको अपनेसे अभिन्न कर लेते हैं। वह परोक्ष नहीं रहा, अपना आत्मा हो गया। जब ईश्वर अपनेसे अभिन्न हो

गया तब अदृष्ट दुःखका भय गया और जब दृश्य अपनेसे अभिन्न हो गया तब दृष्ट दुःखका भय गया। सब अपना आपा है, अतः **अभयं वै ब्रह्म** दृष्टादृष्ट समस्त भयकी निवृत्ति हो गयी। यह अमृत तुम्हारे पास है।

निर्विशेष मनका ही नाम आत्मा है। इसमें प्रत्यक्ष और परोक्षका विष मत घोलो। सविषय ज्ञानका नाम मन है। यह वस्तुतः अमृत है, इसलिए ब्रह्म है। यह आत्मारूप होनेसे कभी मरता नहीं।

येन यज्ञस्त्रायते : सात होता अग्निष्टोम यज्ञमें होते हैं। आप अपने मुखकी ओर ध्यान दें! इसमें सात होता हैं। दो नेत्र, दो नासाछिद्र, दो कर्ण और जीभ। आत्माग्निमें कर्ण शब्दाहुति देते हैं, नेत्र रूपाहुति देते हैं, नासिका गन्धाहुति देती है। यह यज्ञ हो रहा है।

शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति। (गीता 4.26)

मनको देखो कि तुम्हारे भीतर जो ज्ञानाग्नि कुण्ड है, उसमें ये इन्द्रियोंके होता विषयोंकी आहुति डालकर यज्ञ कर रहे हैं।

ऐसा हमारा मन शिवसङ्कल्प होवे। वह कल्याणका—परमात्माका सङ्कल्प करे।

अबतक मनके सम्बन्धमें ये बातें कहीं :

—मन डूबता-उतराता है। अर्थात् उदय-अस्त होता है।

—यह आत्माश्रित है, अपनेमें ही उदय-विलय होता है।

दूरमुदैति अन्तिके चास्तमेति

—यह अपनेको ही प्रतीत होता है।

—इन्द्रियोंका स्वभाव केवल प्रत्यक्षमात्रको अनुभव करना है। नेत्र-कर्णादि सामनेकी वस्तु हीका प्रत्यक्ष करते हैं; किन्तु मन स्मृतिके रूपमें भूत और कल्पनाके रूपमें भविष्यको भी देखता है। वर्तमानको अपना-परायाका, उत्तम कनिष्ठका भेदभाव करके देखता है। इन्द्रियाँ अपना-पराया, उत्तम-अधम, प्रिय-अप्रिय भेद नहीं देखतीं, यह मन देखता है।

—इन्द्रियाँ विषयानुभवको लाकर मनको ही अर्पित करती हैं।

—दूरङ्गमः भूत, भविष्य, वर्तमान, व्यवहित—सबको मन ही जाता है।

—इन्द्रियाँ अनेक हैं, मन एक है।

—सब इन्द्रियोंमें आकर मन ही जानता है।

—शरीरके साथ इन्द्रियाँ गोलक मर जाते हैं :—किन्तु मन नहीं मरता।

—मनसे ही कर्म होते हैं।

मनसे ही बुद्धिमें युक्तिका उदय होता है। मनसे ही सहन-शक्ति आती है।

—मन अपूर्व यक्ष है अर्थात् अनिर्वचनीय है।

अब बतलाने जा रहे हैं कि ज्ञान भी मन ही है। ज्ञान दो प्रकारके हैं, 1. जिसका उदय शब्द-प्रमाणसे ही होता है। जिसे इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त करते हैं।

यत्प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च

विशेषज्ञान, सामान्यज्ञान और धृतिज्ञान—ज्ञान, योग, उपासना और धर्म ये चारों साधन मनसे ही होते हैं।

मनसे ही सप्तहोता-यज्ञ चलता रहता है। खाना, पीना, देखना, छूना, सूँघना आदि यज्ञ चलता रहता है। मन ही यह यज्ञ करता है।

इसका तात्पर्य है कि इन्द्रियोंसे होनेवाले सब ज्ञानका माध्यम मन है। अब बतलाते हैं कि जो ज्ञान इन्द्रियोंके माध्यमसे नहीं होता, केवल शब्द द्वारा होता है, उसका माध्यम भी मन ही है।

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिꣳश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ 5॥

जिस मनमें रथचक्रकी नाभिमें आरियोंके समान ऋग्वेद और सामवेद प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमें यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रजाका सब

पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओत-प्रोत है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो।

यस्मिन्नृच···ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेदका जितना ज्ञान है, सब मनमें है।

ऋग्वेदका महावाक्य है—**प्रज्ञानं ब्रह्म।**

सामवेदका महावाक्य है—**तत्त्वमसि।**

यजुर्वेदका महावाक्य है—**अहं ब्रह्मास्मि।**

अथर्ववेदका महावाक्य है—**अयमात्मा ब्रह्म।**

ये चारो महावाक्य कहाँ रहते हैं? ये मनमें ही उत्पन्न होते हैं। ये ऋक्, साम, यजुः आदि वेद कहते हैं—**दशमस्त्वमसि।**

यद् ब्रह्म त्वया मृग्यते तत्त्वमसि।

जिस ब्रह्मका तू अनुसन्धान कर रहा है, वह तू ही है।

रथनाभा:·····ये मनमें कैसे प्रतिष्ठित हैं, जैसे रथकी नाभिमें रथचक्रके अरे। भगवान्‌का चक्र भगवान्‌की अंगुलीमें ही तो प्रतिष्ठित है। रथके पहियोंकी तिलियाँ जैसे रथकी नाभिमें जड़ी हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण विश्वकी नाभि मन है, इसीमें सब ज्ञान रहते हैं।

मनमें जो विपर्ययकी प्रतिष्ठा करते हैं, वे अज्ञान होते हैं और जो विपर्यय-निवारक होते हैं, वे ज्ञान होते हैं।

सम्पूर्ण प्राणियोंका जो चित्त है—संस्कारात्मक ज्ञानराशि है, जितने भेदज्ञान हैं, वह सब मनमें रहता है। जैसे सुख या दुःखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती, वैसे ही भेदकी भी अज्ञात सत्ता नहीं होती है। जैसे सुख-दुःख परोक्ष नहीं होता, वैसे ही भेद भी कभी परोक्ष नहीं होता। भेद सदा ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशित होता है।

इस प्रकार वैदिक और लौकिक सम्पूर्ण ज्ञान जिस मनमें रहता है, वह हमारा मन जो भी संकल्प करे, वह कल्याणके लिए, धर्मके लिए, परमात्माके लिए ही करे।

अब इस प्रसंगका उपसंहार श्रुति करती है कि प्राणियोंके जीवनका सञ्चालक मन ही है।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं यविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ 6॥

'श्रेष्ठ सारथि जैसे घोड़ोंका सञ्चालन और रासके द्वारा घोड़ोका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियोंका सञ्चालन और नियन्त्रण करता है, जो हृदयमें रहता है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है, वह मेरा मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो।'

मननात् मनः मन् ऋ अवबोधने प्रतिबोधविदितं मनः।

चित्तज्ञान अलग-अलग होता है। यह निमन्त्रण-पत्रका ज्ञान, यह यजुर्वेदका ज्ञान, यह लाउडस्पीकरका ज्ञान है—इसमें निमन्त्रण-पत्र, यजुर्वेदका ग्रन्थ, लाउडस्पीकर पृथक्-पृथक् हैं, इससे इनका ज्ञान भी पृथक्-पृथक् ज्ञात होता है। इन विषयोंसे पृथक् करके ज्ञानको देखो। निमन्त्रण-पत्रपर जो पीला और लाल रंग है, ग्रन्थके जो पन्ने सफेद और काले अक्षर हैं, ये किस नेत्रसे, किस प्रकाशमें दीख रहे हैं? नेत्रेन्द्रिय एक है, रंग पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं। इसी प्रकार ज्ञान एक होता है।

जैसे प्रकाश अपने विषयानुसार विभिन्न रंगोंमें प्रकट होता है, ऐसे ज्ञान भी विषयानुसार विभिन्न रंग-रूपोंमें भासता है। विषयके अनेक होनेसे जैसे प्रकाश अनेक नहीं हो जाता वैसे ही विषय अनेक होनेसे ज्ञान अनेक नहीं होता। विषयकी उत्पत्ति-विनाशसे ज्ञानकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। ज्ञान उत्पन्न होता या मरता नहीं। विषयके सत्य-मिथ्या होनेसे ज्ञान सत्य-मिथ्या नहीं होता। विषयके दूर-निकट होनेसे ज्ञान दूर-निकट नहीं होता। विषयके भूत-भविष्य होनेसे ज्ञान भूत-भविष्य नहीं होता। विषयके बड़ा-छोटा होनेसे ज्ञान बड़ा-छोटा नहीं होता। ज्ञान अखण्ड एकरस है।

सुषारथि=शरीर रथ है। इसमें मन सारथि है।

जैसे एक अच्छा सारथि अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाता है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरका मन सञ्चालन करता है।

क्रिया समविहारेण नयन इति नेनीयते।

क्रिया सम विहारसे सब शरीरोंको चलाता है।

अभीशुभिः=लगाम (प्रग्रह) को हाथमें रखकर जैसे सारथि घोड़ोंको नियन्त्रित करता है, ऐसे ही जो शरीर, इन्द्रियोंको प्रग्रह द्वारा नियन्त्रित करता है।

इस मनका घर कहाँ है?

हृत्प्रतिष्ठम्=यह हृत्-आत्मामें प्रतिष्ठित है।

हरतीति हृत्=सबके उपसंहारका जो स्थान है, उसे हृदय कहते हैं।

न्यायमतमें अन्तःकरण अणु है, किन्तु वेदान्त अन्तःकरण—मनको मध्यम परिमाण मानता है। आपको भय लगता है तो शरीर काँपता है और धड़कन बढ़ जाती है। चिन्ता होनेपर सिरदर्द होता है। जो वस्तु पूरे शरीरमें रहती है, वही भयकी दशामें हृदय और चिन्ताकी दशामें सिरमें क्रियाशील हो जाती है।

हृत्प्रतिष्ठंका अर्थ है कि अत्यन्त सूक्ष्मतम दशामें शरीरमें मन रहता है। इसीलिए षट्चक्रमें-से प्रत्येक चक्रमें और इन चक्रोंसे पृथक् भी होता है।

अजिरम्=शरीर जीर्ण हो जाता है, पर मन कभी वृद्ध नहीं होता।

यविष्ठम्=यह बड़ा वेगवान् है। इसके भागनेकी गति कभी घटती नहीं।

मनको पहिचानना अपनेको पहिचानना है। मनपर नियन्त्रण मनकी प्रकृतिके अनुसार होता है। जैसे कोई घोड़ा लगाम ढीली छोड़ देनेपर भी ठीक चलता है और किसीकी लगाम सम्हालकर या कसकर पकड़नी पड़ती है।

उपासना, धर्म, योग, विवेक, तत्त्वज्ञानसे मनपर नियन्त्रण स्वयंके मार्गसे करने-चलनेपर मन स्वतन्त्र हो जायेगा, किन्तु गुरुके आदेशपर चलनेसे मन स्वयं शीघ्र नियन्त्रणमें आजाता है और तब मन शिवसंकल्प होता है।

•

स्वस्त्ययन

स्वस्त्ययन

1.

ॐ सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये।
अपां नपातथ्ठंसुभगथ्ठंसुदंससं सुप्रतूर्तिमनेहसम्॥
(सामवेद 1.6.8; पाठ-भेदसे ऋग्वेद 3.9.1)

'हे परमेश्वर आप हमारे सखा हैं। स्वयं प्रकाश हैं। हम मृत्युग्रस्थ मनुष्य अपनी रक्षाके लिए आपका वरण करते हैं। आप शरणके शरण हैं। परमैश्वर्यशाली भगवान् हैं। पवित्र ज्ञानके दाता हैं। आपके आश्रयसे ही संसार-समुद्रको पार किया जा सकता है। आप सर्वथा निर्विकार एवं मायारहित हैं।'

2.

ॐ नम सखिभ्यः पूर्वसद्भ्यो नमः साकंनिषेभ्यः।
युञ्जे वाचं शतपदीम्॥
(सामवेद उत्तरार्चिक 20.6.7)

'हमारे साथ वर्तमान, हमारे जैसे नामवाले, समान हृदयवाले, भगवद्भक्तोंको नमस्कार है। हमसे पहले अतीत कालमें हुए सत्पुरुषोंको नमस्कार है। जो वैदिक धर्मके आचार, विचार एवं प्रचारमें संलग्न हैं उन्हें नमस्कार है। मैं शत्-शत् नामवाले वचन एवं परमात्माका प्रतिपादन करनेके लिए वाणीका प्रयोग करता हूँ।'

3.

ॐ शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मत्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥
(ऋ० 1.89.9; शुक्ल यजुः 25.22)

'हे देवताओ! आप लोगोंने मनुष्योकी आयु सौ वर्षकी बनायी है। अतः यह आयु पूरी करनेके पूर्व हमें मत मारना। आपने हमारे शरीरको उस वृद्धावस्थातक पहुँचनेके लिए बनाया है जिसमें पुत्र पिताके समान संरक्षक हो जाते हैं।'

4.

ॐ सना ज्योतिः सना स्वर्विश्वा च सोम सौभगा।
अथा नो वस्यसस्यकृधि॥

(ऋ० 9.4.2, सामवेद 1048)

'पवित्र, मधुर एवं प्रिय सोमरूप परमेश्वर! हमें सदा प्रकाश-ज्योतिका दान करो। सदा सुख दो। सदा सम्पूर्ण-सौभाग्य दो और अन्ततः हमें श्रेय तथा निःश्रेयस प्रदान करो।'

5.

उद्वयं तमसः परि ज्योतिः पश्यन्तः उत्तरम्।
देवं देवत्रा, सूर्य्यम् अगन्म ज्योतिः उत्तमम्॥

(ऋ० 1.50.10)

'हम अज्ञानान्धकारसे परे उत्कृष्टतम ज्योतिका अनुभव करते हुए सर्वावभासक तत्त्वको प्राप्त हुए हैं, वही देवताओंका देवता है और सूर्यगण उसे ही प्राप्त करते हैं।'

6.

ॐ पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः
शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो
विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह॥

(ऋ० 1.8.9.7. शु० य० 25.20)

'मरुत् देवता हविष्यरूप अन्न लेकर हमारे उस यज्ञमें आयें। उनका वाहन चितकवड़ी घोड़ी है। अन्तरिक्ष, गाय या अदिति उनकी माता हैं। वे सबके लिए कल्याणकारी हैं। उनका स्वभाव यज्ञभूमिमें पधारनेका है।

अग्नि उनकी जिह्वा है। सूर्य उनकी आँख है। वे सर्वज्ञ हैं। उनके साथ सभी देवता हमारे यज्ञमें आनेकी कृपा करें।'

7.

शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु
शं न उरुची भवतु स्वभाभिः।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः
शं नो देवानां सुहवानि सन्तु॥

(ऋग्वेद मण्डल 7 सूक्त 35 मन्त्र 3)

'सबको धारण करनेवाले परमेश्वर हमें शान्ति दें। सबको पुष्टि देनेवाले परमेश्वर हमें शान्ति दें। समग्र पृथिवी अपने अन्न, धनके साथ हमारे लिए कल्याणकारी हो। द्युलोक, पृथिवीलोक अर्थात् समस्त अन्तरिक्ष अपनी पवित्रताके द्वारा हमारा कल्याण करें। सब पर्वत हमारे लिए सुखकारी हों। देवताओंकी पूजा हमारा मङ्गल करे।'

8.

ॐ येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृष भरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥

(ऋ० 10.63.3)

'विश्वामाता पृथिवी जिन देवताओंके लिए परम मधुर अपना सारभूत पेय देती है और अदिति अर्थात् परमोदार अन्तरिक्ष मेघोंसे भरपूर होकर अमृतकी वर्षा करती है। हे मेरे कर्मप्रवण आत्मदेव! उन सत्कर्म-परायण देवताओंकी स्तुति करो, जिनका बल स्तुति करनेसे बढ़ता है और विश्वमें वर्षा कराते हैं। इसीसे हम अविनाशी जीवन व्यतीत कर सकेंगे।'

स्तूयमाना हि देवता बले बर्धते!

9.

ॐ भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये॥

(ऋ० 10.63.9)

‘हम युद्धभूमिमें पापनाशक स्वनामधन्य इन्द्रको अपनी रक्षाके लिए आमन्त्रित करते हैं। इनके साथ ही साथ सभी पुण्यात्मा देवभक्त जनताका भी आह्वान करते हैं। अग्नि, मित्र, वरुण, भग, द्यु, पृथिवी, मरुत् ये सब देवजन यहाँ आवें और हमें अन्न तथा संरक्षण प्रदान करें। हमें अविनाशी जीवन प्राप्त हो।’

10.

ॐ आ जागृविर्विप्र ऋतं[१] मतीनां

सोमः पुनानो असदच्चमूषु।

सपन्ति यं मिथुनासो निकामा

अध्वर्यवो रथिरासः सुहस्ताः॥

(सामवेद उत्तरार्चिक 11.2.1; ऋ० 9.97.37)

‘परस्पर मिले हुए, अत्यन्त प्रीतिमान्, भक्तिरूप रथवाले, हाथोंसे कभी भी अपवित्र कर्म न करनेवाले, भक्ति-यज्ञके करनेवाले विद्वान् जिसमें तल्लीन रहते हैं वह परमेश्वर सदा जागरणशील है। कौन, कब, कहाँ क्या कर रहा है, उसे वह अच्छी तरहसे जानता है। विद्वानोंके सत्यको पवित्र करता है, अर्थात् उस सत्यमें कुछ न्यूनता हो तो उसे पूरा करके उसे पवित्र बनाता है—सर्वग्राह्य बनाता है—और भक्तोंके मध्यमें विराजमान रहता है।’ (संस्कार भाष्य)

11.

ॐ स्वस्ति नो दिवो अग्ने

पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यजथाय देव।

सचेमहि तव दस्म

प्रकेतैरुरुष्या ण उरुभिर्देव शंसैः॥

(ऋ० म० 10, सूक्त 7, मन्त्र 1)

---

१. *‘ऋता’ इत्यृक्पाठः*

'हे अग्निदेव! परमात्मन्! आप अचिन्त्य, अनन्त, दान, दया आदि कल्याण-गुणोंसे युक्त हैं। आप पृथिवी, अन्तरिक्षसे यज्ञके लिए सर्वान्नउपयोगी पदार्थ दीजिये। हम सब उपद्रवोंसे रहित और सर्वान्नसे युक्त होकर यज्ञ-यागादि करते रहें। हम सबके साथ मैत्री करें और हे दर्शनीय! हम तुम्हारे वर्णन करनेवाले अनेक प्रज्ञानोंसे युक्त हों। आप हमारी रक्षा कीजिये।'

12.

ॐ य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेन सस्पर्यद्या
देवास पिपृता स्वस्तये॥
(ऋ० म० 10, सूक्त 63, मं० 8)

'जो प्रज्ञावृद्ध देवता सम्पूर्ण स्थावर-जंगम सृष्टिके ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ है, वे आप सब हमारे निषिद्ध कर्म करने एवं विहित कर्म न करनेसे जो पाप उत्पन्न हुए हैं उनसे सम्पूर्ण रूपेण प्रतिदिन हमारी रक्षा करें और सर्वदा हमारा मंगल करें।'

13.

ॐ आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो-
ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद्‌वृधे असन्न-
प्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥
(ऋ० म० 1, सूक्त 89, मन्त्र 1)

'हमारे जीवनमें सभी ओर से लोककल्याणकारी सत्संकल्पसे युक्त यज्ञोंका शुभागमन हो। उनमें कोई विघ्न न पड़े। वे नष्ट न हों। शत्रुओंकी मटियामेट कर दें। वे सफल हों। प्रतिदिन हमारी रक्षा करें। सभी देवता सदा हमारे सम्पोषण और संवर्द्धनमें संलग्न रहें।'

14.

ॐ नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम।
न ऋते त्वत्क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥

(ऋ० म० 10 अनुवाक 90 सू० 112)

'हे गणपते! आप अपने गणोंमें भलीभाँति विराजमान हो जाइए; क्योंकि सभीने ऐसा कहा है कि आप क्रान्तदर्शी कवियोंमें सर्वोपरि मेधावी हैं। आपके बिना बाहर या भीतर, दूर या समीप कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता। हे ऋद्धि, सिद्धि, बुद्धिके एकच्छत्र रसवर्षी सम्राट्! आप अपने महान् अर्चनीय एवं विचित्र ज्ञान-प्रकाशको प्रकट कीजिये।'

गणपति=जीवोंकी मनोवृत्तियोंके एवं इन्द्रियगणोंके अधिपति जन-गणमन अधिनायक।

जीवोंमें, अन्त:करणोंमें, इन्द्रियोंमें और जनतामें सर्वश्रेष्ठ ज्ञान प्रकट कीजिये। स्वयं आप उनमें अभिव्यक्त हो जाइये। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सम्बन्धी प्रयत्नोंमें मार्ग-दर्शन कीजिये।

15.

ॐ अर्चत प्रार्चत नर: प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरामिद्धृष्ण्वर्चत॥

(साम० छं० आ० 4.2.3.3)

'कर्मके मुख्य अधिकारी मनुष्यो! तुम परम ऐश्वर्यशाली परमात्माकी पूजा करो। स्तुति, नमस्कार, सेवा आदिके द्वारा उसी सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामीकी श्रेष्ठ सेवा करो। ओ प्रतिभाशाली धारणा-शक्ति-सम्पन्न प्रज्ञावान् पुरुषो! मैं फिर कहता हूँ कि तुम उसीकी आराधना करो। मेरे वात्सल्यभाजन पुत्रो! पृथिवी आदि पञ्चभूतोंमें तथा उनसे बने हुए प्राणियोंके शरीरोंमें भी उसी देवाधिदेवकी आराधना करो। सूर्य, वेदी, जल, प्रतिमा, यन्त्र और हृदयमें भी उसीकी आराधना करो और भी सम्पूर्ण

स्तोता-अर्चक एवं सेवकोंके वाञ्छितार्थ-पूरक अनर्थाभिभवशील सर्वाधिक शक्तिशाली परमेश्वरकी ही यथाविधि तथा यथाशक्ति सर्वत्र पूजा करो।'

यह मन्त्र ऋग्वेद एवं अथर्वसंहितामें भी आया है, परन्तु उनमें 'पुरमित्' के स्थानपर 'पुरं न' ऐसा पाठ है, वहाँ नकारका अर्थ उपमा है।—निरुक्त 1.2.1

इस मन्त्रमें बारम्बार भगवान् परमेश्वरकी पूजाका आदेश है। पूजा बिना अधिष्ठानके नहीं हो सकती—इसलिए यथायोग्य आधारका ऊहन कर लेना चाहिए।

16.

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता सं गमेमहि॥

(ऋ० म० 5 अ० 4 सू० 52 मं० 15)

'जैसे सूर्य और चन्द्रमा विशाल आकाशमें अपने मार्ग-मर्यादानुकूल प्रकाश, प्रेरणा एवं आह्लादका दान करते हुए निरालम्ब निर्विघ्न तथा सकुशल विचरण करते हैं, वैसे ही हम भी विश्व-व्यवहारमें असंग रूपसे संलग्न रहें। हम पुनः पुनः उदार दाता राग-द्वेषरहित अहिंसक एवं यथार्थ-ज्ञानसम्पन्न विद्वान् जनसमूहसे मिलते रहें।'

ऋग्वेदके प्रायः सभी भाष्योंमें इस मन्त्रका यही अभिप्राय प्रकाशित किया गया है। सायण भाष्यकी यह विशेषता है कि उसने पहले यही अर्थ प्रकाशित करके फिर एक दूसरा भाव भी अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं कि प्रवासी मनुष्य पूर्वार्द्धमें कहता है कि मैं सूर्य, चन्द्रमाकी भाँति विश्वमें विचरण करूँ। उत्तरार्द्धमें उसके बन्धु-बान्धव कहते हैं कि तुम फिर कुछ उपार्जन करके हमारे लिए लाकर दो। इतने दिन बाहर रहनेके कारण हमारे ऊपर क्रोध मत करो और हमारे स्नेहको पूरी तरह समझो। इस प्रकार हम लोगोंका फिर समागम हो।

17.

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥

(ऋ० मं० 1 अ० 2 सू० 157)

'हे भगवद्गुणानुवादगान-रसिक सत्पुरुषो! उस अनादिसिद्ध सनातन परमात्माको तुम जैसा जानते हो वैसा ही अपने सहज निष्काम जीवनसे आजीवन तृप्त करो, प्रीतिपूर्वक उसकी भक्ति करो, क्योंकि वही कारणवारिका जनक यज्ञात्मा परम सत्य ऋतदेव है।'

इस सर्वात्मा विष्णुके चिन्मय नामको ही सर्वत्र परिपूर्ण देखते हुए उसका संकीर्तन करो। हे सर्वकारणकारण प्रभो! आप महान् हैं। हम आपकी सुमतिका भजन-सेवन करते हैं।

18.

ॐ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

(ऋ० मं० 1 सू० 164 म० 39)

'अविनाशी, परिपूर्ण, सर्वाधिष्ठान, आकाशवत् व्यापक, सर्वाधार, निरतिशय श्रेष्ठ आत्मामें ही सम्पूर्ण ऋचाओंका परम तात्पर्य है। सभी शरीर उसीकी अर्चा-पूजामें लगे हुए हैं। सारी इन्द्रियाँ और देवता उसमें ही अध्यस्त हैं। जिसने उस परम सत्य आत्मदेवको नहीं जाना उसका जीना और पढ़ना-लिखना भी व्यर्थ है; और जिसने उसको ठीक-ठीक जान लिया वे जन्म-मरण, गमनागमन, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर अपने निष्क्रिय स्वरूपमें सर्वदा स्थिर रहते हैं।'

'निरुक्तने इस मन्त्रकी तीन व्याख्या की है। अधियज्ञ-पक्षमें ओंकार अधिदैव-पक्षमें आदित्य, अध्यात्म-पक्षमें जीवात्मा। अधियज्ञ-पक्षमें ऋचा अर्थात् वेदवाणीसे सम्बद्ध प्रणवरूप अक्षर ओंकार—वह अविनाशी

है सर्ववेदव्यापी है और निरतिशय सर्वश्रेष्ठ है। उसको व्योम इसलिए कहा गया कि उसमें सम्पूर्ण शब्दराशि ओत-प्रोत है। सम्पूर्ण मन्त्रोंमें जिन देवताओंका वर्णन आया है वे सब ओंकारमें विद्यमान हैं; जैसे प्रथममात्रामें पृथिवी, पृथिवीमें रहनेवाले,अग्नि और ऋग्वेद। द्वितीय मात्रामें अन्तरिक्ष, उसके निवासी, वायु और यजुर्वेद। तीसरी मात्रामें द्युलोक, उसके निवासी आदित्य और साम। ओंकार ही सब कुछ है। जो ओंकारकी इस महिमाको नहीं जानता उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है और जो जान लेता है वह मुक्त हो जाता है।'

अधिदैव-पक्षमें सम्पूर्ण ऋचाएँ आदित्यकी ही अर्चा-पूजा करती हैं, वही सब मन्त्रोंमें व्याप्त है—उसकी रश्मियोंका नाम देवता है—वही सबका अधिष्ठाता है।

अध्यात्म-पक्षमें शरीरको ही ऋचा कहते हैं। क्योंकि शरीरकी एक-एक क्रिया और उपस्थितिसे आत्माकी ही अर्चा सम्पन्न होती है। **ऋचन्ति अर्चन्ति अनेन इति ऋक्।** यह शरीर विषय-सुख भी आत्माको ही देता है और उसी उद्देश्यसे सब कर्म करता है। सारी इन्द्रियोंमें ज्ञानरूपसे वही है और उसीमें सारी इन्द्रियाँ अध्यस्त हैं। इन्द्रियोंको ही देवता कहा गया है। वही सबको सत्ता-स्फूर्ति देकर विशेष रूपसे अवन-रक्षण करता है इसीलिए उसे व्योम कहते हैं। वह आकाशवत् सर्वगत है। अविनाशी होनेसे उसीको अक्षर कहते हैं। सम्पूर्ण वाणियोंका पर्यवसान भी उसीमें होता है। वह अविनाशी है। पारम्यकी पराकाष्ठा भी वही है। अतः उसे 'परम' कहा गया है।

उसके ज्ञानके बिना यह जीवन व्यर्थ है। उसके ज्ञानसे ही जीवन सफल होता है।

सायणने इस मन्त्रमें जीवात्माके पारमार्थिक स्वरूपका प्रतिपादन माना है। उसके साथ ऋक्-प्रधान साङ्ग अपरविद्यात्मक चारों वेदोंका ऋचा शब्दसे ग्रहण किया है। इसका प्रतिपाद्य अदृश्यादि गुणक क्षरण-रहित अविनाशी, नित्य सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म अक्षर शब्दका अर्थ है।

बृहदारण्यक, मुण्डक आदि उपनिषदोंमें ब्रह्मको ही अक्षर कहा गया है। ऋचा और ब्रह्मका प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। सभी ब्रह्मका ही ज्ञान कराते हैं। 'परम' शब्दका अर्थ है उत्कृष्ट और निरतिशय। व्योम शब्दका अर्थ है आकाश। वह अलेप निराकार और विभु है। अधिष्ठान होनेसे सर्वका रक्षक भी है। ऐसे तत्त्वमें ही यह दृश्य प्रपञ्च अध्यस्त है। सब देवता, इन्द्रिय, विषय, वेद उस परमात्मामें ही पर्यवसित हैं। जो मनुष्य सबकी सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले सम्पूर्ण वेदके तात्पर्य-विषय इस परमार्थ वस्तुको नहीं जानता—वह केवल ऋगादि शब्द-जालके पाण्डित्यसे क्या लाभ उठायेगा? ज्ञानके साधनसे ज्ञेयको नहीं जाना तो क्या सिद्ध किया? प्रयोजन सिद्ध न होनेसे सारा वेद निष्फल गया।

इसका दूसरा अभिप्राय यह है कि परमात्माके ज्ञानके बिना यज्ञादिका अनुष्ठान भी अकिंचित्कर ही है। जो इस परमात्माको जानते हैं—उन्हींकी स्थिति सम्यक् है। अपने स्वरूप ब्रह्ममें नित्य-मुक्तरूपसे स्थित हैं। इसका यह भी अभिप्राय है कि जो जान लेते हैं उन्हें अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं रहती। उन्हें सब फलोंका फल अपने आप ही प्राप्त हो जाता है।

19.

ॐ गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रम उद्वंशमिव येमिरे॥

(ऋक्० म० 1, सू० 10. ऋ० 1.)

'हे सच्चिदानन्द! आपके कार्य, प्रज्ञा और आनन्द अनन्त हैं। उद्गाता आपके भोक्ता, भोग्य और भोगके रूपमें स्थित समत्व अर्थात् ब्रह्मस्वरूपका निरूपण करते हैं। आपके अर्चक-होता आपके अर्चनीय स्वरूपकी अर्चा-पूजा करते हैं। ब्रह्मा और ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ रूपमें आपकी स्तुति करते हैं। जैसे बाँसके नोकपर नृत्य करते हुए शिल्पी प्रौढ़ वंशको उन्नत करते हैं, अथवा सन्मार्गवर्ती पुरुष अपने कुलको उन्नत करते हैं, वैसे ही वे सब स्तुति द्वारा आपकी महिमाका संवर्द्धन करते हैं।'

स्कन्दस्वामीने इस मन्त्रके भाष्यमें एक सूक्ति दी है, **स्तूयमाना हि देवता वीर्येण वर्धन्ते।** स्तुति करनेपर देवता अपने वीर्य–पराक्रमको अधिकाधिक प्रकाशित करते हैं। वेङ्कटनाथने 'उद्गाता और होता, ये दोनों प्रकारके ब्राह्मण जैसे कोई अपने हाथोंसे वंश (बाँस) को उठाये, वैसे ही स्तोत्रोंके द्वारा देवताको जगाते हैं'—ऐसा कहा है।

मुद्‌गलीय व्याख्यामें सायणके समान ही है।

गायत्र साममें 'मैं ही अन्न हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही दोनोंका एकत्वापादक हूँ'—इस प्रकार ब्रह्मके समत्वका गान है। इसलिए उसे गायत्र साम कहते हैं। वह प्रसिद्ध है—**अहमन्नमहमन्नमहमन्नमित्यादि०।**

कोई–कोई इस मन्त्रमें **गायत्रिणः** पदका अर्थ 'गायत्रीके उपासक' ऐसा करते हैं। गायत्रीके पूर्वार्द्धमें तत्पदवाच्यार्थ सविता देवके गर्भका वर्णन है और उत्तरार्द्धमें त्वं–पदवाच्यार्थ बुद्धिप्रेरक रूपका वर्णन है। पहला कारणोपाधिक है और दूसरा कार्योपाधिक। समानाधिकरण्यके कारण उपाधिका निरसन करके अखण्डार्थका ग्रहण करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि गायत्रीके द्वारा प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मका ही प्रतिपादन है।

यह मन्त्र ऋग्वेदके अतिरिक्त सामवेद और तैत्तिरीय संहितामें भी आया है। निरुक्तमें भी इसका व्याख्यान है। यास्कने **अर्क** शब्दके चार अर्थ दिये हैं—अर्क देवता है; क्योंकि लोग इसकी अर्चा करते हैं। अर्क मन्त्र है; क्योंकि इससे अर्चा करते हैं। अर्क अन्न है, यह प्राणियोंकी अर्चा करता है। अर्क आकका वृक्ष है;क्योंकि यह कटुकतासे संवृत्त है। इस प्रकार अर्क' शब्दका अर्थ ईश्वर, पूजाके मन्त्र, पूजाकी सामग्री आदि होता है। उन्होंने वंश पदका अर्थ ध्वज किया है। जैसे लोग बाँसके सहारे किसीके यशका झण्डा फहराते हैं, वैसे ब्राह्मण स्तुति–पूजाके द्वारा ईश्वरके यशका झण्डा फहराते हैं।

अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण वेद, मन्त्र, पूजा आदिका तात्पर्य परमेश्वरकी आराधनामें ही है।

20.

ॐ यद्द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमिरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्त्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥

(ऋ० मं० 8. अ० 6. सू० 70)

'हे इन्द्र! यदि सैकड़ों द्युलोक और सैकड़ों पृथिवी, तुम्हारी उपमाके लिए प्रस्तुत किये जायँ तो वे कभी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते। तुम उनसे अतिरिक्त और श्रेष्ठ ही रहोगे।'

'हे वज्रिन्! सहस्त्रों सूर्य भी तुम्हारी समानता नहीं कर सकते। और तो क्या, कोई भी उत्पन्न वस्तु तुम्हारा प्रतिमान नहीं है। द्यावा, पृथिवी तो तुम्हारी तुलनामें हैं ही क्या?'

वेदोंमें इन्द्र शब्दका बड़े व्यापक अर्थमें प्रयोग किया गया है। ऋग्वेदमें ही इन्द्रको स्थावर-जंगमात्मक प्रपञ्चका प्रकाशक कहा गया है। **इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा।** मैत्री उपनिषत्में इन्द्रको आत्मा कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मणमें वर्णन है कि दक्षिण नेत्रमें निवास करनेवाले पुरुषका नाम 'इन्ध' है। इन्ध माने प्रकाशक। इन्धको ही इन्द्र कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषत्में दक्षिणाक्षिमें दृश्यमान पुरुषको 'आत्मा' कहकर फिर उसे ही 'अमृत अभय ब्रह्म' बताया गया है। अथर्वसंहितामें इन्द्रको मनुष्यके सूक्ष्मतम अन्तःप्रदेशमें विद्यमान कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मणमें इन्द्रको सब देवताओंसे श्रेष्ठ और सब देवतारूप बतलाया है। एतरेय उपनिषत्में **इदमदर्शमिति** यह व्युत्पत्ति देकर 'इदन्द्र' को ही 'इन्द्र' कहा गया है अर्थात् वह इदंरूप सम्पूर्ण दृश्यका द्रष्टा है।

यास्कने निरुक्तमें इन्द्र शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियाँ लिखी हैं। इदंका कर्त्ता इन्द्र है। इदंका द्रष्टा इन्द्र है। ऐश्वर्यशाली इन्द्र है। शत्रुओंका विदारण अथवा विद्रावण करनेवाला इन्द्र है। वह याज्ञिकोंका आदर भी करता है।

शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें आदित्य, वायु, वाक्, प्राण, यजमान, हृदय, मन, क्षत्र, अशनि, स्तनयित्नु, ब्रह्म, प्रजापति, देवलोक, बल,

बलपति, वीर्य, इन्द्रिय, शिश्न, रेत, आहवनीय और उद्गाताको इन्द्रका स्वरूप ही बताया गया है। इन्द्र अश्व भी है और वृषभ भी। इन्द्र ज्योतिषस्वरूप है। ऐसे इन्द्रका उपमान भला कौन हो सकता है!

इन्द्रके लिए दूसरा सम्बोधन है 'वज्रिन्' वज्र इन्द्रका शस्त्र है। संसारमें जिसकी भी मृत्यु होती है, इसी वज्रसे। वह वर्जन वियोजन करता है, इसलिए उसे वज्र कहते हैं। इन्द्र वज्रसे वृत्रासुरको मारते हैं। वृत्र चिदाकाशका आवरण है। वही अज्ञानान्धकार है। उसका अपवर्जन अर्थात् निवारण करनेके कारण उसकी संज्ञा वज्र है। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मसे अभेदका बोध ही व्रज है। वही अविद्यान्धकार-रूप वृत्रका नाश करता है। इन्द्रसे एकत्वका बोध हुए बिना ज्ञान वज्रसे अज्ञानवृत्रका वधरूप बाध नहीं हो सकता।

यदि वह मन्त्र केवल स्वर्गाधिपति इन्द्रके लिए हो तो इसे अतिस्तुति मानना पड़ेगा और यदि इन्द्रान्तर्यामी परमात्माके लिए हो तो यथार्थ ज्ञान। परन्तु 'इन्द्र' शब्दका अर्थ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म होने पर इसे उपनिषत्प्रतिपाद्य तत्त्व ही समझना चाहिए, जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषत्में कहा गया—**ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।** वह पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और इन सब लोकोंसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है।

अभिप्राय यह है कि यह प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म परमात्मा देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सर्वावभासक, सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय तत्त्व है।

21.

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥

(ऋ० मं० 10, सू० 60, मं० 15)

'यह मेरा हाथ भगवान् है अर्थात् दुष्करसे दुष्कर कार्य करनेमें भी समर्थ है। यह मेरा हाथ भगवान्‌से भी श्रेष्ठ है अर्थात् इन हाथोंके द्वारा कर्म

करनेपर भगवान्‌को भी फल देनेके लिए बाध्य होना पड़ता है। यह मेरा हाथ विश्वके सम्पूर्ण रोगोंका औषध और समस्त समस्याओंका समाधान है। यह मेरा हाथ जिसका स्पर्श कर देता है, वह परम मंगलमय शिव हो जाता है।'

22.

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

(ऋ० 1.89.6)

'परम यशस्वी इन्द्र हमारी स्वस्ति=कल्याण करे। सर्वज्ञ पूषा हमारी स्वस्ति करे। अप्रतिहत गति तार्क्ष्य हमारी स्वस्ति करे। बृहस्पति हमारी स्वस्ति करे।'

स्वस्ति : निरुक्तमें कहा गया है—**स्वस्तीत्यविनाश नाम।** अविनाशका ही एक नाम स्वस्ति है। यह शब्द अव्यय है। सुखमय अस्तित्व इसका अर्थ है।

इन्द्र : स्वस्त्ययनके 20वें क्रममें इस शब्दकी व्युत्पत्ति और अर्थ दिया जा चुका है। इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यशाली ईश्वर। वही हस्तेन्द्रियका अधिष्ठातृ देवता होकर कर्मसहायक एवं कर्माराध्य है। इन्द्र हमारी स्वस्ति करे—इसका अर्थ यह है कि परमेश्वर हमारे हाथोंमें देवताके रूपमें बैठकर ऐसा कर्म कराये जिससे हम लौकिक-पारलौकिक सुख-शान्ति और यशकी प्राप्ति करें।

पूषा : शब्दका अर्थ निरुक्तमें दिया गया है—'**यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति**' अर्थात् जो रश्मियोंसे पुष्टि-दान करनेवाला नेत्रोंका अधिष्ठातृ देवता सूर्य ही है, वही पूषा है। वही सबको जानता है और वह सभी धनोका मालिक है। 'विश्ववेदाः' का 'वेदस्' शब्द लाभार्थक अथवा ज्ञानार्थक 'विद्' धातुसे बना हुआ है। इसका अर्थ यह है कि सर्वज्ञ सूर्य

देवता हमारी आँखोंमें बैठकर ऐसे दर्शन करायें जिनसे हमारा जीवन लौकिक-पारलौकिक एवं पारमार्थिक अमृतत्वको प्राप्त करे। एक परमेश्वर ही तत्तद् इन्द्रियोंकी सहायता करनेके लिए तत्तद् देवताके रूपमें पृथक्-पृथक् बैठा है। विभागीय दृष्टिसे वह देवता है, परमार्थ-दृष्टिसे वह परमात्मा ही है।

तार्क्ष्य : यह तृक्षके पुत्र होनेसे तार्क्ष्य हैं। निरुक्तमें कहा है—'**तीर्णं अन्तरिक्षे क्षियति, तूर्णमर्थं रक्षति, अश्नोतेर्वा**' यह अन्तिरिक्षमें विराजमान एवं व्यापक शब्दात्मक गरुड़ है। इसकी गति अप्रतिहत है, इसीलिए इसकी पहुँच सब जगह है। इसीपर बैठकर परमात्मा लोगोंके सम्मुख आता है। यह शब्दात्मक गरुड़ है। यह हमारी स्वस्ति करे—इसका अभिप्राय यह है कि हम अपने कानोंसे ऐसे शब्द सुनें जिनसे अविनाशी जीवनकी प्राप्ति हो।

बृहस्पति : निरुक्तमें इस शब्दकी व्युत्पत्ति दी हुई है—**बृहतः पाता वा पालयिता वा।** जो सम्पूर्ण जगत्का और रसात्मक जलका पान करता तथा पालयिता है, उसको बृहस्पति कहते हैं। सायणाचार्यने कहा है कि '**बृहत्**' शब्दका अर्थ है देवता। 'जो देवताओंका पालयिता है, उसे बृहस्पति कहते हैं, बृहस्पति वाक्पति है; क्योंकि सभी लौकिक और वैदिक व्यवहार-अर्थ स्फुरणात्मक वाक्के आश्रित हैं। स्फुरणा और शब्दोच्चारणको ही व्यवहार कहते हैं। बृहस्पति हमारी स्वस्ति करे—इसका आशय यह है कि हम अपनी वागिन्द्रियसे ऐसी वाणी बोलें कि जिससे लौकिक, पारलौकिक एवं पारमार्थिक अमृतत्वकी उपलब्धि हो।

23.

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः॥

(ऋ० 1.86.8)

'दानादि गुण-युक्त देवताओ! हम अपने कानोंसे भजनीय कल्याण-वचन श्रवण करनेमें समर्थ रहें। यज्ञ-यागादिके द्वारा आराधनीय देवताओ! हम अपने नेत्रोंसे शोभन वस्तुके दर्शनमें समर्थ बने

रहें। हम अपने स्थिर दृढ़ हस्त-पादादि अंगोंसे और शरीरोंसे आपको प्रसन्न करते हुए और स्तुति करते हुए प्रजापति देवके द्वारा प्रदत्त पूर्ण आयु प्राप्त करें।'

भद्रम् : यह 'भज्' धातुसे बना हुआ शब्द है। जो प्राणियोंके लिए भजनीय, सेवनीय और अभिगमनीय है, उसे 'भद्र' कहते हैं। निरुक्तके अनुसार इसकी दूसरी व्युत्पत्ति है भवद्रमयति। इसका अर्थ है कि यह शब्द दो धातुओंसे बना है। जिसको यह प्राप्त होता है, वह सुखी होता है। तीसरी व्युत्पत्ति है—'वह कल्याण रूप पुरुषोंमें निवास करता है, वे ही उसके भाजन हैं।' पृषोदरादि होनेके कारण 'भाजन' का भद्र बन गया है। सायणाचार्यने कहा है कि देवताओंके प्रसादसे हम कल्याण-वाणीका श्रवण करते रहें, कभी बहरे न हों। श्रोत्र और चक्षु भद्राभद्र विषयका श्रवण और दर्शन करते हैं। वे केवल भद्र-विषयक ही हों, यह प्रार्थना की जाती है। स्कन्दस्वामी, वेङ्कटनाथ एवं मुद्गलने भी प्रायः यही अभिप्राय बताया है। पूर्ण आयुके सम्बन्धमें सायणका मत है—एक सौ सोलह या एक सौ बीस। स्कन्दस्वामी वेङ्कटनाथ सौ वर्ष बतलाते हैं, मुद्गल एक सौ बीस।

मन्त्रका अभिप्राय है कि हम कल्याण-श्रवण, शोभन-दर्शन और शुभकर्म करते हुए ही जीवन व्यतीत करें। अशुभ श्रवण-दर्शनमें प्रवृत्ति न हो, अशुभ कर्म न हो और शरीरपर बुढ़ापा, रोग आदिका आक्रमण न हो।

24.

ॐ अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

(ऋ० सं० 1.89.10)

'अदिति ही द्युलोक है। अदिति ही अन्तरिक्ष है। अदिति ही माता है। वही पिता और पुत्र है। अदिति ही विश्वेदेवा है। अदिति ही पञ्चजन है। अदिति ही जात है और अदिति ही जनिष्यमाण है।'

निरुक्तके अनुसार अदिति शब्द 'दीङ्क्षये' धातुसे क्तिन् प्रत्यय

और छान्दस ह्रस्व करके नञ्समाससे बना है। इसका अर्थ है जो कभी दीन न हो, उपक्षीण न हो, सम्पूर्ण सृष्टिका कारण होनेपर भी और उसको धारण करनेपर भी खण्डित न हो। इसीसे अदिति शब्दका अर्थ अखण्डनीया अदीना होता है। अदिति शब्दका अर्थ अग्नि, पृथिवी और देवमाता भी होता है। प्रस्तुत मन्त्रमें अदितिकी विभूतियोंका वर्णन है। गौणवृत्तिसे भी कार्यको कारण कहा गया है। कारण कार्यसे विलक्षण होता है, किन्तु कार्य कारणसे विलक्षण नहीं होता। अतएव कहा गया है कि कारणरूपा अदितिसे कार्य-जगत् भिन्न नहीं है, सब अदितिका ही विलास है, सम्पूर्ण कार्य-कारणात्मक जगत् अदिति ही है। अग्नि होनेके कारण अधर्षणीय, पृथिवी होनेके कारण सर्वधारक, अन्तरिक्ष आदि होनेके कारण सर्वव्यापी और पञ्चजन एवं जात व जनिष्यमाण होनेके कारण सर्वरूपा है। जब इस शब्दका प्रयोग प्रधान एवं प्रकृतिके अर्थमें किया जाता है तब यह परिणामिनी होकर सर्व है और जब इसका प्रयोग चित् सत्ताके अर्थमें होता है तब यही सर्वविवर्तिनी ब्रह्मचितिका बोधक हो जाती है।

द्युः शब्द द्युलोक अर्थात् सर्वविध सुखका वाचक है, अन्तरिक्ष विस्तारका, माता-पिता-पुत्र कार्य कारणके अभेदका। विश्वेदेवा कहनेका अभिप्राय यह है कि सब देवता, इन्द्रियाँ और मन अदितिरूप ही हैं, वह देवमाता होनेसे इन्द्रिय जननी ही है। पञ्चजनाः का अर्थ है पाँचो विषय— पंचभूत। चारों वर्ण एवं वर्णवाच्य। अथवा गन्धर्व, पितर, देवता, असुर एवं राक्षस। जात और जनित्वसे भूत और भविष्यका ग्रहण है। इसका अर्थ है सब कुछ अदिति ही है।

25.

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं विबभूव सर्वम्॥

(ऋ० 8.59)

'एक ही अग्निदेव समुद्र, विद्युत्, जठर, काष्ठादि आश्रयके भेदोंसे अनेक प्रकारोंसे प्रदीप्त होता है। एकाकी कर्मप्रेरक सूर्यदेव जगत्में अनुप्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न रूपोंसे प्रकट होते हैं। अकेली ऊषा विशाल तमस्का तिरस्कार कर इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करती है। इसी प्रकार एक सन्मात्र ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्चके रूपमें विवर्तमान हो रहा है।'

एक : जो सब संख्याओंमें अनुगत हो, उसे 'एक' कहते हैं। इसका एक नाम 'केवलान्वयी' भी है। इसीकी अपेक्षासे एक+एक=दो आदि बनते हैं। दो, तीन आदि संख्याएँ अनित्य होती है। यह अदादि गत्यर्थक 'इण्' धातुका रूप है, उणादिसे निष्पन्न होता है।

अग्नि : अग्निका 'देवताओंका सेनापति' कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मणमें इसे 'देवताओंका मुख' भी कहा गया है। तैत्तिरीयोंने इसे 'प्रथम देवता'के रूपमें स्मरण किया है। वाजसनेयी ब्राह्मणमें इसे 'देवताओंका ज्येष्ठ भ्राता' कहा गया है। अग्निहोत्रादि यज्ञोंमें सबसे अग्रभागमें अर्थात् पूर्व इसका प्रणयन होता है, अतएव इसे 'अग्नि' कहते हैं। यह जिस वस्तुमें प्रज्वलित होता है, उसे अपना अंग, स्वात्मरूप बना लेता है; इसलिए इसे अग्नि कहते हैं। जैसे वृत्ति द्वारा ज्ञात ब्रह्मवृत्तिको भी अपने स्वरूपसे अभिन्न कर लेता है, वैसे ही काष्ठादिमें प्रज्वलित अग्नि भी उसे स्वस्वरूप बना लेता है। अतएव ब्रह्माग्नि या ज्ञानाग्नि शब्दका प्रयोग है।

स्थूलाष्ठीव ऋषिके पुत्रने 'अक्नोपन' शब्दसे अग्निकी व्युत्पत्ति मानी है। 'क्नोप' अर्थात् स्नेह। यह किसीको स्नेह नहीं देता। शाकपूणि आचार्यका कहना है कि 'अक्ति'का अकार, 'दग्ध'का गकार और 'नीत'का नि लेकर 'अग्नि' शब्द बनता है। अभिप्राय यह कि यह रूपका प्रकाशन करता है, वस्तुओंको दग्ध करता है और हविष्यको देवताओं तक पहुँचाता है। ब्रह्मवस्तुको प्रकट करना, अविद्याको दग्ध करना और अप्राप्त-कल्पको प्राप्त-सा कराना 'अग्नि' शब्दका अर्थ है। ऋग्वेदके एक

सद् विप्रा बहुधा वदन्ति इस प्रसंगमें दो बार अग्निका प्रयोग हुआ है। वहाँ अग्नि-शब्दका अर्थ है शब्द-ब्रह्म, ज्ञान-ब्रह्म।

सूर्य : 'सूर्य' शब्दकी व्युत्पत्ति यों दी गयी है: गत्यर्थक 'सृ' धातुका यह रूप है। जो आकाशमें गतिशील है, वह सूर्य है। 'गति' शब्दके चार अर्थ हैं: (1) गमन, (2) ज्ञान, (3) मोक्ष और (4) प्राप्ति। जो आकाशमें व्यापक है उसे भी सूर्य कहते हैं। प्रेरणार्थक अथवा प्रसवार्थक 'सु' धातुसे भी 'सूर्य' शब्द बनता है। उसका अर्थ है लोगोंको कर्मकी प्रेरणा देनेवाला अथवा लोक-जनक। प्राणवायु-प्रेरकको भी सूर्य कहते हैं।

ऊषा : 'ऊषा शब्द 'उच्छी विवासे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है अन्धकारको भगानेवाली, नष्ट करनेवाली, अनावृत करनेवाली। उष् धातु दहार्थक भी है। प्रभातके अर्थमें इसका प्रयोग होता है। सूर्य स्थावर-जंगम जगत्का आत्मा है और ऊषा है उसके आगे-आगे चलनेवाली उसकी बहन, जैसे ब्रह्मज्ञानके पूर्व सात्त्विकी वृत्ति पादविन्यास करती है।

यहाँ एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मको ही 'एकम्' कहा गया है। वही सम्पूर्ण जगत्के रूपमें भास रहा है। 'बभूव' क्रियाके साथ 'वि' उपसर्ग जोड़नेका अभिप्राय यह है कि वह परिणामी नहीं, विवर्ती है। अतात्त्विक ही भास रहा है अपने स्वरूपके विपरीत, अनेक दृष्टान्त देनेका अभिप्राय यह है कि जब अग्नि, सूर्य आदि देवता भी अनेक रूपोंमें भास सकते हैं, तो एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म अनेक रूपोंमें भासे तो आश्चर्य ही क्या?

26.

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहोरात्रे पार्श्वे
नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुं म इषाण
सर्वलोकं य इषाण॥

(यजु० 31.32)

'हे पुरुषोत्तम! श्री और लक्ष्मी तुम्हारी पत्नी हैं। दिन और रात्रि तुम्हारे पार्श्व भाग हैं। आकाशमें छिटके हुए तारे तुम्हारे रूपकी रश्मियाँ हैं। अश्विन अर्थात् द्युलोक और पृथिवीलोक तुम्हारे मुखके विकास हैं। हम जानते हैं कि तुम हमें चाहते हो। इसलिए अवश्य हमारा अभ्युदय और निःश्रेयस चाहो। हमारा लोक-परलोक और सर्वलोक तुम श्रेष्ठ बना दो। सर्वलोकमें मेरा आत्मभाव हो जाय।'

1. **'श्री'** शब्दका अर्थ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सम्पदा है। यह पुरुषोत्तमके आश्रित रहती है, उनका आश्रय भी है। इसीके कारण कोई भी आश्रयणीय हो जाता है।

2. **'लक्ष्मी'** कहते हैं—शभु लक्षणको, जिसके कारण मनुष्य दर्शनीय हो जाता है। विष्णु भगवान्‌के वक्षःस्थलपर यही लक्ष्मी शोभायमान हैं। यह अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग सौन्दर्यके रूपमें विराजमान रहती हैं। औदार्य, सौन्दर्य, सौशील्य, वात्सल्य आदि इन्हींके विशेष रूप हैं।

3. ये दोनों भगवान्‌की पत्नी हैं, इसका अर्थ यह है कि ये उनके वशमें हैं। जहाँ भगवान् हैं, वहीं श्री, लक्ष्मीका नित्यनिवास है।

4. **'दिन और रात्रि पार्श्वभाग हैं'** इसका अभिप्राय यह है कि काल भी पुरुषोत्तमका एक अवयव है। जगत्‌की उन्नति और अवनति उन्हींके अधीन है।

5. **'नक्षत्र रूप हैं'** इसका आशय यह है कि इस संसारमें जितना प्रकाश है, वह सब प्रभुके तेजसे ही भासमान है।

6. **'मुख विकास'** का अर्थ है, विस्तार। अभिप्राय यह है कि देश प्रभुका अवयव है, वही सबके आधार हैं।

वे हमारे हितैषी हैं और हमारा हित कर सकते हैं। वे हमारा ऐसा हित करें, जिससे लोक-परलोक सर्वलोकमें कहीं भी हमारा राग-द्वेष न हो एवं सर्वात्मभाव, सर्वात्मबोधकी प्राप्ति हो।

27.

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः
स्वस्ति देव्यादितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः
स्वस्ति द्यावा पृथिवी सुचेतुना॥
(ऋ० मंडल 5, सू० 51)

'अश्विन देवता हमारा अविनाशी कल्याण करें। भग देवता हमारा कल्याण करें। देवो अदिति हमारा कल्याण करें। स्वतन्त्र पूषा एवं शत्रुओंको भगानेवाले अथवा प्राणबलके दाता असुर हमारा कल्याण करें। द्यावा, पृथिवी जो शोभन प्रज्ञानसे विशिष्ट हैं, हमारे लिए कल्याण-कारी हों।'

28.

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहे
सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
वृहस्पति सर्वगणं स्वस्तये
स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥
(ऋ० मंडल 5, सू० 51)

'हम नित्यक्षेमकी प्राप्तिके लिए वायुदेवताकी स्तुति कर रहे हैं जो कि चतुर्दश भुवनके पालक हैं। सम्पूर्ण लोकका जीवन सोमके अधीन है। वे हमारे लिए स्वस्ति=कल्याणके हेतु बनें। अपने सब गणोंके सहित बृहस्पतिको जो कि कर्म और मन्त्रके रक्षक हैं सबकी स्वस्तिके लिए हम स्तुतिका विषय बनाते हैं। अदितिके सभी पुत्र हमारे लिए कल्याण-कारी हों।'

29.

विश्वेदेवा नो अद्या स्वस्तये
वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।

देवा अवन्त्यवृभवः स्तस्तये

स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥

(ऋ० मंडल 5, सू० 51)

'आज इस शुभ कर्मके अनुष्ठानके समय सभी देवता हमारे लिए कल्याणकारी हों। वैश्वानर सर्वोपास्य सर्वाधार अग्निदेवता हमारे लिए कल्याणकारी हों। ऋभ देवता भी हमारी रक्षा करें और हमारे लिए कल्याणकारी हों। रुद्रदेवता जो कि रोदनसे द्रावयिता अर्थात् दूर रखनेवाले हैं, पापोंसे निरन्तर रक्षा करें।'

30.

स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति।

स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि॥

(ऋ० मंडल 5, सूक्त 51)

'दिन और रात्रिके अभिमानी देवता मित्र और वरुण हमारी रक्षा करें। पथमें हितकारिणी पथ्या देवी रेवती अर्थात् धनकी स्वामिनी मेरे लिए क्षेमकारी हों। इन्द्रदेवता और अग्निदेवता भी हमारे लिए नित्य सुखके दाता बनें। हे अदिति देवी! तुम हमारे लिए क्षेमका दान करो।'

31.

ॐ येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः

पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।

उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ

आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥

(ऋ० म० 10, सू० 63 म० 3)

'पृथिवी माता जिसके लिए मधुर पय=जल अथवा क्षीर देती है, असीम द्युलोकरूप अदिति माता भी मेघोंसे समृद्ध होकर जिनके लिए अमृतकी वर्षा करती हैं; उन श्लाघनीय, शक्तिशाली, धर्मात्मा, स्वकर्म-परायण पृथिवी-पुत्र प्राणियोंके लिए हम अविनाशी जीवनके पथपर चलनेका उत्साह एवं प्रेरणा देते हैं।'

32.

ॐ नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा
वृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो
दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥

(ऋ० मं० 10, सू० 63, म० 4)

'जो कर्मपरायण मनुष्योंकी देखभाल करते हैं, जो पलक गिराने भरका भी विश्राम नहीं लेते, जो लोक-सेवामें निरन्तर संलग्न रहते हैं; उन दिव्य पुरुषोंने महान् अमृतत्व प्राप्त किया है। उनका रथ ज्योतिर्मय होता है। उनकी प्रज्ञाका कोई नाश नहीं कर सकता। वे निष्पाप होते हैं। ऐसे ही पृथिवी-पुत्र द्युलोकके उन्नत नाभिस्थानपर लोक-कल्याणके लिए निवास करते हैं।'

33.

ॐ सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुर-
परिह्वता दधिरे दिवि क्षयम्।
तां आ विवास नमसा सुवृक्ति-
र्भिमहो आदित्यां अदितिं स्वस्तये॥

(ऋ० म० 10, सू० 63 म० 3)

'जो साम्राज्य-सुखको प्राप्त हैं और ज्ञान तथा कर्मसे सद्वृद्धिको प्राप्त करके यज्ञमें आते हैं। वे किसीसे अभिभूत नहीं होते और ज्योतिर्मय लोकमें निवास करते हैं। उस सत्कर्म एवं सद्गुणोंसे महान् पृथिवीके पुत्रों और पृथिवीको अविनाशी जीवन प्राप्त करनेके लिये नमस्कार तथा श्रेष्ठ स्तुतियोंसे हम प्रसन्न करते हैं।'

34.

ॐ तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं
धिय जिन्वमवसे हूमहे वयम्।

पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे
रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥
(ऋ० मं० 1, सू० 89, म० 5)

'उस ईश्वरको जो चराचर जगत्का स्वामी एवं रक्षक है, सम्पूर्ण बुद्धियोंमें आनन्दका उल्लास करता रहता है, अपने त्राण-कल्याणके लिए हम उसका आवाहन करते हैं। जिस प्रकार पूजा अर्थात् सूर्यदेवता हमारे ज्ञान एवं धनकी वृद्धि करते हैं, वैसे ही ईश्वर निर्विघ्नरूपसे हमारी रक्षा करे और हमारे लिए अमर कल्याणका दाता हो।'

35.

ॐ अपामीवामप विश्वामनाहुति-
मपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनो-
रु ण शर्म यच्छता स्वस्तये॥
(ऋ० 10. 63.12)

'हे देवताओ! हमारे बहिरंग, अन्तरंग शरीरमें आधि-व्याधि न हो और शत्रु हमसे दूर रहें। हमारे मनमें देवताओंको आमन्त्रित करनेमें जो अश्रद्धा हो और उनके जो शत्रु हों, उन्हें हमसे अलग कर दिया जाय। हमारा सबसे बड़ा शत्रु है—बुद्धिमें रहनेवाला लोभ। उसको आप भगा दें। जो हमारे साथ पापपूर्ण व्यवहार करना चाहते हों, उनकी दुष्ट बुद्धिको नष्ट कर दें। जो भी हमसे शत्रुता करता हो उसे दूर फेंक दें। इस प्रकार आप हमें पूर्ण सुख और कल्याण-जीवनका दान करें।'

36.

ॐ अभयं नः करत्यन्तरिक्षम-
भयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्त-
रादधरादभयं नो अस्तु॥
(अ० कां० 19, सू० 15, म० 5)

'पृथिवी और द्युलोकके मध्यमें विराजमान अन्तरिक्ष हमें अभयदान दे। सम्पूर्ण प्राणियोंके निवास-स्थान द्युलोक और पृथिवी अभयका विस्तार करे। पश्चिम दिशामें अभय हो, पूर्व दिशामें अभय हो, उत्तर दिशामें अभय हो और हमारे लिए दक्षिण दिशामें भी अभय ही हो।'

37.

ॐ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं
ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा
आशा मम मित्रं भवन्तु॥

(अथर्ववेद : काण्ड 19; सूक्त 15, मन्त्र 6)

'हमें मित्रसे भय न हो अर्थात् वह सर्वदा हमारे लिए हितकारी बना रहे। हमें शत्रुसे भय न हो। ज्ञातसे भय न हो और अज्ञातसे भी भय न हो। रात्रिसे अभय हो, दिनसे अभय हो। सभी दिशाएँ हमारे लिए मित्रके समान हितकारी हों।'

38.

ॐ वात आ वातु भेषजं, शंभु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत्॥

(ऋ० म० 10, सू० 186 म० 1)

'वायुदेवता हमारे लिए जो-जो औषध, पथ्य या हितकारी हो, वह लेकर आयें। उससे हमारे शारीरिक और मानस रोग शान्त हों। परमानन्दकी प्राप्ति हो। हमारी आयु बढ़े। हम अविनाशी जीवन प्राप्त करें।'

वा गतिगन्धनयोः इस अदादि परस्मैपदी धातुसे निष्पन्न शब्द है 'वात'। इसका आधिभौतिक अर्थ है—वायु। शुद्ध वायु आरोग्य और सुख लेकर आता है। आधिदैविक अर्थ है वायुदेवता। उसके प्रति प्रार्थना की गयी है। आध्यात्मिक वायु है—शरीरसंचारी प्राण। वह सहज गतिसे

अपना काम करे। परमार्थतः वायुका अर्थ है—अन्तर्यामी, वात प्रकाशक, वाताधिष्ठान अद्वितीय ब्रह्म **वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि**। वह हमारे जीवनमें साक्षादपरोक्ष रूपसे प्रकट हो और अविद्या एवं तन्मूलक सकल अनर्थको दूर करके उनकी निवृत्तिसे उपलक्षित मोक्षस्वरूप परमानन्दकी उपलब्धि करावे।

39.

ॐ उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि॥

(ऋ० म० 10, सूक्त 186, म० 2)

'हे वात परमात्मा! तुम हमारे पिता हो; क्योंकि तुमने ही हमें उत्पन्न किया है। साथ ही तुम भ्राता भी हो हितसे भरे हुए। तुम्हीं हमारे सखा हो। नाम एक, स्नेह अखण्ड—अविच्छिन्न मैत्री। तुम इसी प्रकार मुझे सर्वदा जीवनदान करते रहो।'

40.

ॐ यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे॥

(ऋ० म० 10, सूक्त 186, मन्त्र 3)

'हे वात परमात्मा! तुम्हारे स्थानमें यह अमृतका निधान प्रतिष्ठित है। उसी निधिमें-से तुम हमारे जीवनके लिए अमृतत्व प्रदान करो।'

41.

ॐ देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां
देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं
देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥

(ऋ० 1.89.2)

'हमें देवताओंको कल्याणकारिणी परोपकारनिरता, सुखदायिनी और भजनीय शुद्ध बुद्धि प्राप्त हो। हम चाहते हैं कि सरलता, सदाचार आदि गुणोंसे युक्त यजमान सर्वदा यज्ञ किया करें। हमें देवताओंका कृपाप्रसाद पूर्णरूपसे मिलता रहे। हमें उनकी मित्रता प्राप्त हो। देवता-गण आराधनामय जीवन व्यतीत करनेके लिए हमें विशेष आयु प्रदान करें।'

42.

तान् पूर्वया निविदा हूमहे
वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्त्रिधम्।
अर्यमणं वरुण सोममश्विना
सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥

(ऋ० 1.89.3)

'हम अनादिसिद्ध, प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रयुक्त वेदवाणीके द्वारा भग, मित्र, अदिति, दक्ष, अर्यमा, वरुण, सोम, अश्विनीकुमार आदि अक्षय देवताओंका आवाहन कर रहे हैं। साधन-धन-सम्पन्न सरस्वती हमारे लिए सुखका विस्तार करें।'

43.

ॐ तन्नो वातो मयोभु बातो भेषजं
तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुव-
स्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥

(शु० य० 25-17; ऋ० 1.89.4)

'वायुदेवता अर्थात् परमेश्वर हमारे लिए सुखकारी औषधका अनुग्रह करें। माता पृथिवी और पिता अन्तरिक्ष भी वैसा ही अनुग्रह करें। पाषाण खण्ड भी जो सोमाभिषवके हेतु हों, सुखकारी हों। हे अश्विनी कुमार! आप भी हमारी प्रार्थना सुनें और हमपर अनुग्रह करें।'

इस मन्त्रमें ओषधि जिस भूमिमें पैदा हुई है, जिस वातावरणमें बढ़ी है, जिस पत्थरसे पीसी गयी है और जिस वैद्यने बतायी है, उनकी उपाधिसे विराजमान परमेश्वरकी अनुकूलताकी प्रार्थना की गयी है।

44.

ॐ शं नः सूय उरुचक्षा उदेतु
शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्त्रः।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु
नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥
(अथ० का० 19, सू० 10, मं० 8)

'सर्वव्यापी ज्योतिर्मय, जन समूहके द्वारा प्रत्यक्ष दृश्यमान सूर्यका उदय हमारी शान्तिके लिए हो। चारों दिशाएँ हमारे लिए शान्तिकारक हों। स्थिर पर्वत शान्तिकारक हों। सभी प्रकारकी जलधाराएँ हमें शान्ति दें। सम्पूर्ण जलतत्त्व हमारे लिए कल्याणकारी हों।'

●
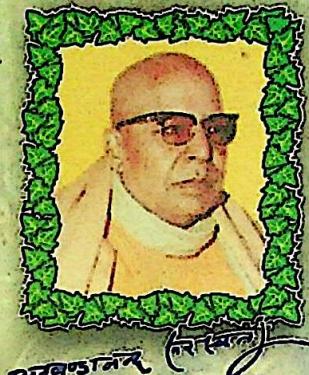
निगम-चिन्तन

अथर्ववेद, ऋग्वेद, यदुर्वेदमें अनेक ऐसे सूक्त एवं स्वस्त्ययन हैं जिनसे जीवोंका जीतेजी कल्याण निश्चित है।

उनमेंसे कुछ चुने हुए सूक्तों एवं स्वस्त्ययनोंका रहस्य सरल भाषामें परन्तु विभिन्न (न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध, चार्वाक, वेदान्त आदि) मतोंके अनुसार परमपूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीने लिखवा दिया उव्वट, वेंकटनाथ, महीधर, सायण, उद्गीथ स्कन्द स्वामी, मुद्गल आदिके वैदिक अर्थोंको भी महाराजश्रीने इसमें उद्धृत किया है आपके कर-कमलोंमें 'निगम-चिन्तन'के रूपमें वह संकलन प्रस्तुत है।

वैदिकार्थी, विद्यार्थी, धर्मार्थी, अर्थार्थी, कामार्थी, मोक्षार्थी-सभीके लिए यह ग्रन्थ समान रूपसे फलदायी है।

वितरक :

आनन्द कानन प्रेस

टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337